# हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक

•

भाग २४ अप्रैल-जून
अङ्क २ १९६३

प्रधान सम्पादक
*बालकृष्ण राव*

प्रबन्ध सम्पादक
*विद्या भास्कर*

•

सहायक सम्पादक
*डॉ० सत्यव्रत सिन्हा*

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
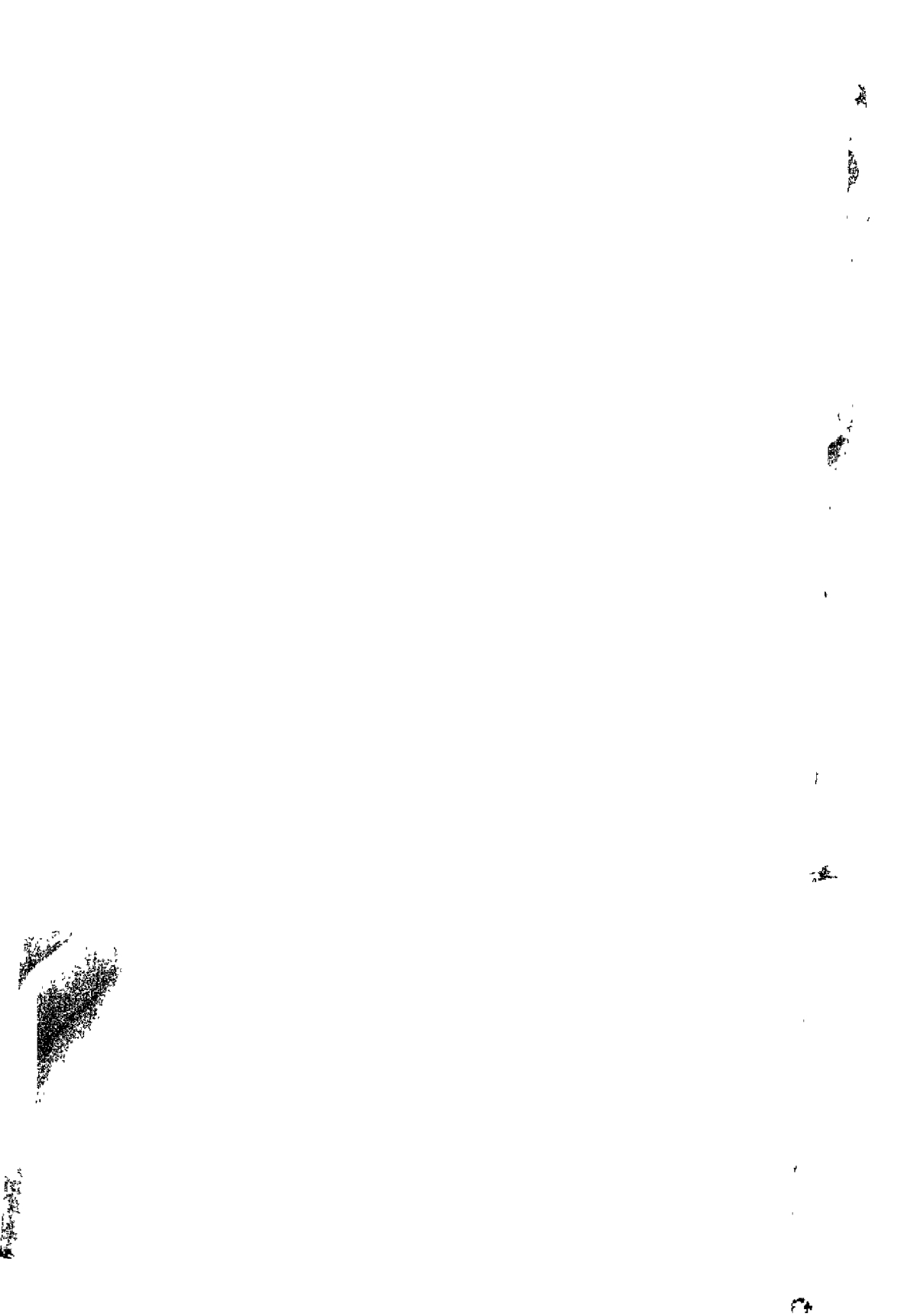
# हिन्दुस्तानी

## त्रैमासिक

•


भाग २४ अप्रैल-जून

अङ्क २ १९६३


प्रधान सम्पादक
*बालकृष्ण राव*

प्रबन्ध सम्पादक
*विद्या भास्कर*

•
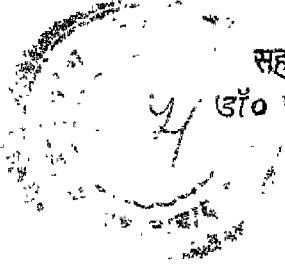
सहायक सम्पादक
*डॉ० सत्यव्रत सिन्हा*

मूल्य एक अङ्क [illegible] रु०

वार्षिक [illegible]०.०० रु०

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

अनुक्रम

स्पेन की सुप्रसिद्ध आल्तामीरा गुफा में लाल रङ्ग से अङ्कित दौड़ते हुए घोड़े का एक सशक्त चित्र जिसकी अनुकृति का श्रेय योरोपीय प्रागैतिहासिक चित्रकला के विशेषज्ञ एच० ब्रूई तथा एच० ओबरमेइए को है।
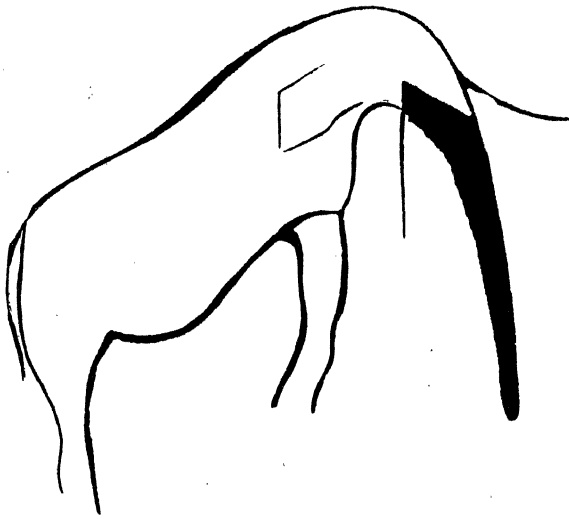
बुशमन शैली की पत्थर पर उकेर कर बनायी गयी हाथी की आकृति जो दक्षिणी अफ्रीका की ऑरेन्ज फ्री स्टेट में स्थित लकहॉफ़ नामक स्थान के समीप शिलाङ्कित है। यह अनुकृति भी हेलेन टङ्ग द्वारा ही की गयी है।
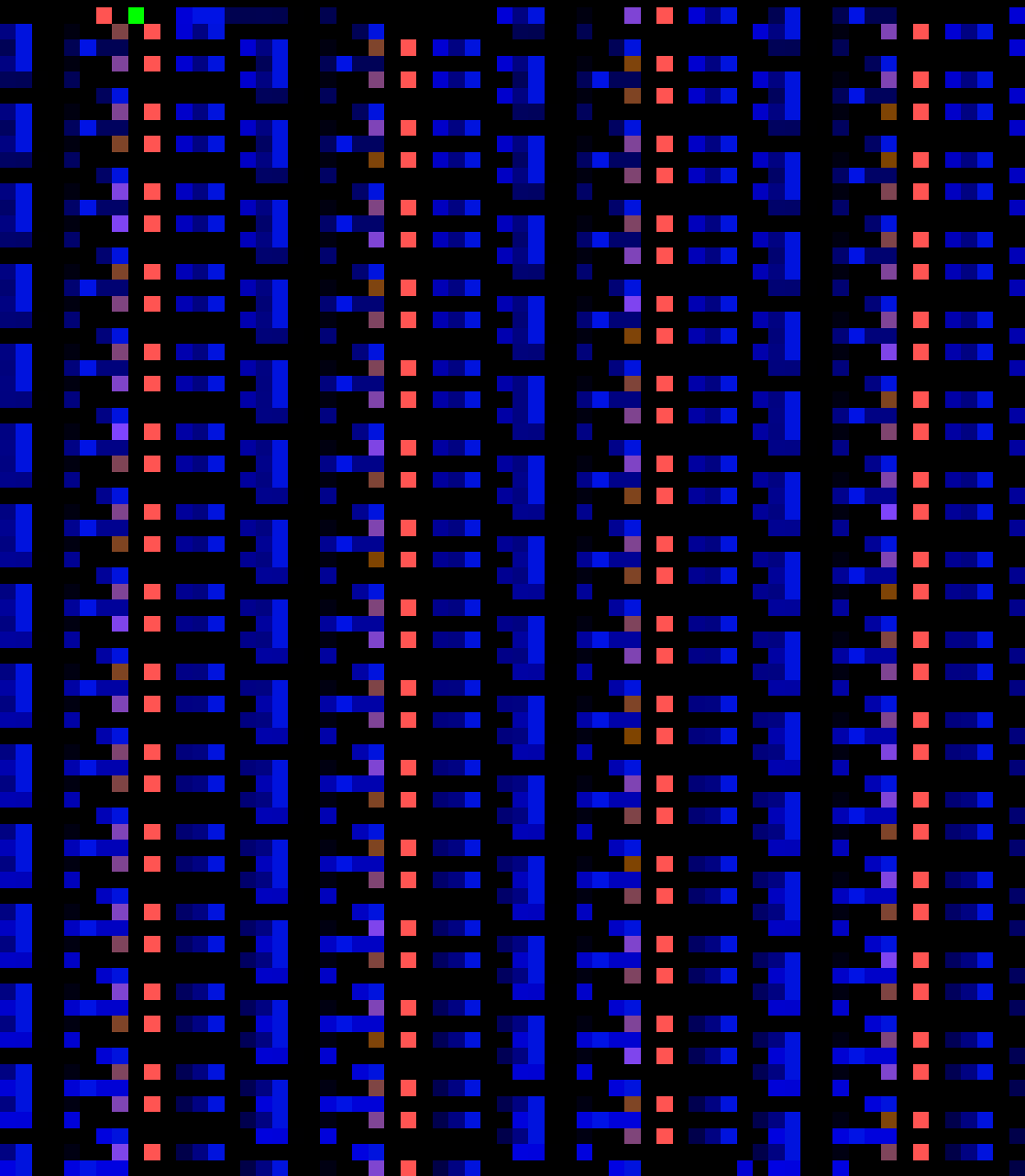
जगदीश गुप्त

# विदेशों में प्रागैतिहासिक चित्रों की खोज

ऐलन ह्राटन ब्रॉड्रिक ने कदाचित् पहली बार विश्वव्यापी स्तर पर प्रागैतिहासिक चित्रकला का सम्यक् परिचय अपनी संक्षिप्त किन्तु विशिष्ट पुस्तक 'प्रिहिस्टॉरिक पेंटिंग' (Prehistoric Painting) में प्रस्तुत किया है। यही नहीं उन्होंने अभी कुछ समय पूर्व योरोप की प्रागैतिहासिक कला के जर्मन विशेषज्ञ हर्बर्ट कुह्न के एक नव-लिखित ग्रन्थ को 'आन दि ट्रैक आफ प्रिहिस्टॉरिक मैन' नाम से अंग्रेज़ी में अनूदित भी किया है। ऐसे विद्वान् के साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि संसार का ध्यान प्रागैतिहासिक चित्रों की ओर उन्नीसवीं शती के आठवें दशक के आस-पास उत्तरी स्पेन में स्थित आल्तामीरा की चित्रमय गुफा की शोध के अनन्तर गया, इससे पूर्व उनका ज्ञान किसी को नहीं था।[1]

## स्पेन

उत्तरी स्पेन में कॉन्ताब्रिया (Contabria) पिरेन (Pyrenees) तक और उससे ऊपर पुरातन पेरीगॉ (Perigord) तथा वेज़ेयर (Vezere) नदी की प्रसिद्ध घाटी तक लगभग सौ चित्रित गुफाओं की शृङ्खला फैली हुई है जिनमें ब्रॉड्रिक के अनुसार सब से प्रमुख गुफाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) आल्तामीरा (Altamira) (२) बासोन्दो (Basondo) (३) कूवा देल कास्तिल्यो (Cueva Del Castillo) (४) ला–पासेगा (La-Pasiega) (५) हॉर्नास द ला पेन्या (Hornos de la Peña) (६) पिन्दाल (Pindal) (७) पेन्या द कोदिमो (Peña de Caudemo)

इन सब में आल्तामीरा ही सर्वप्रथम खोजी गई, वही सबसे अधिक प्रख्यात हुई तथा चित्रों की दृष्टि से भी उसी का महत्व सर्वोपरि है। उसकी खोज नितान्त आकस्मिक एवं अप्रत्याशित रूप से सन् १८७९ में हुई। मारसेलिनो द सौतुओला (Marcelino de Sautuola) नामक एक स्पेनी व्यक्ति की पाँच बरस की छोटी सी लड़की जो ऊपरी गुफाएं देखने में लीन अपने पिता से अलग होकर नीचे की ओर भटकती हुई चली गयी, के सशक्त बाइसन'

चित्रों को अनेक सहस्राब्दियों के व्यवधान के बाद अपनी भोली आँखों से पहली बार देखने का सौभाग्य पा सकी। वह मारे उल्लास के 'Toros, Toros' चिल्लाती हुई दौड़कर अपने पिता के पास गई और उसने उन्हें अपनी खोज का प्रथम परिचय दिया। उसकी यह खोज विश्व की चित्रकला के इतिहास में एक नये अध्याय के सूत्रपात का आधार बनी। एबे एच० ब्रूई (Abbe H. Breuil) तथा एच० ओबरमायर (H. Obermaier) द्वारा १९३५ ई० में आल्तामीरा एक गवेषणापूर्ण सचित्र अध्ययन प्रस्तुत किया गया जिसकी मान्यता एवं ख्याति इस क्षेत्र में प्रायः सर्वत्र हुई। ब्रूई महोदय एम० सी० बर्किट (M. C. Burkitt) के साथ इससे पूर्व सन् १९२९ में दक्षिणी स्पेन के शिला-चित्रों के विषय में 'Rock Painting of Southern Andalusia' नाम से ग्रन्थ रूप में एक विशेष अध्ययन प्रकाशित कर ही चुके थे, उन्होंने योरोप के गुफा-चित्रों के विषय में स्वतन्त्र रूप से एक और विस्तृत अध्ययन 'Four Hundred Centuries of Cave Art' प्रस्तुत किया। इसमें स्पेन की आल्तामीरा कोगुल (Cogul) आदि बत्तिस चित्रमय गुफाओं का परिचय दिया गया है जो निम्नलिखित पाँच क्षेत्रों में स्थित हैं:—

१—बास्क (Basque) २—सान्तान्देअर (Santander) ३—अस्तूरीयास (Asturias) ४—ओल्ड कस्तिल्य (Old Castile) ५—आन्दालूजिया (Andalusia)

उनका अध्ययन इतना गहन है कि उन्हें प्रागैतिहासिक योरोपीय कला का कदाचित् सबसे बड़ा विशेषज्ञ कहा जा सकता है।

आल्तामीरा के पशु-चित्रों का शैली-साम्य ५००० मील से भी अधिक दूर दक्षिणी अफ्रीका के बसूटोलैण्ड (Basutoland) नामक प्रान्त की खोट्सा (Khotsa) गुफा के पशु-चित्रों में मिलता है।[२] पूर्वी स्पेन की साल्तादोरा (Saltadora) गुफा के चित्रों में जो धनुर्धर मानवाकृतियाँ मिलती हैं उनका आश्चर्यजनक सादृश्य अफ्रीका के उक्त प्रान्त की ही बोगाटी पहाड़ी (Bogati Hill) के चित्रों में अङ्कित योद्धाओं से लक्षित किया गया है।[३] इसके आधार पर योरोप और अफ्रीका के बीच पुरातन काल में रहे। विविध प्रकार के सांस्कृतिक सम्बन्धों की कल्पना भी विद्वानों ने की है। डॉ० कुह्न की स्पष्ट धारणा है कि स्पेनी और अफ्रीकी चित्रों के निर्माता परस्पर सम्बद्ध रहे होंगे, इसीलिए इतना शैली-साम्य मिलता है। पूर्वी स्पेन के 'स्पेनिश लेवां' (Spanish Levant) नाम से प्रसिद्ध एवं अनेकानेक गुफाओं से पूरित तटवर्ती प्रदेश में स्थित यह दो गुफाएँ विशेष महत्वपूर्ण कही जा सकती हैं:—

१—पार्पेल्लो (Parpello)

२—मिनाटेडा (Minateda)

पार्पेल्लो में अनेक शैलियों के चित्र मिलते हैं और मिनाटेडा में क्रमशः आक्षिप्त एक पर एक तेरह चित्रण स्तर प्राप्त होते हैं।[४] लैवेन्टाइन चित्रों की ओर सर्वप्रथम १९०३ ई० में ध्यान आकर्षित हुआ।

स्पेन में बहुवर्णिक एवं सशक्त यथार्थ रूपालेखन से युक्त गुफा-चित्रों, मुख्यतया आल्तामीरा के चित्रों की प्रामाणिकता और प्राचीनता को लेकर भारी विवाद आरम्भ हुआ जिसका परिशमन फ्रांस के गुफा-चित्रों की समय-समय पर होने वाली उपलब्धि के द्वारा होता रहा। इधर जब लास्को ( के अद्वितीय चित्रों की खोज हुई तो सन्देह की रही-सही छाया भी मिट गयी
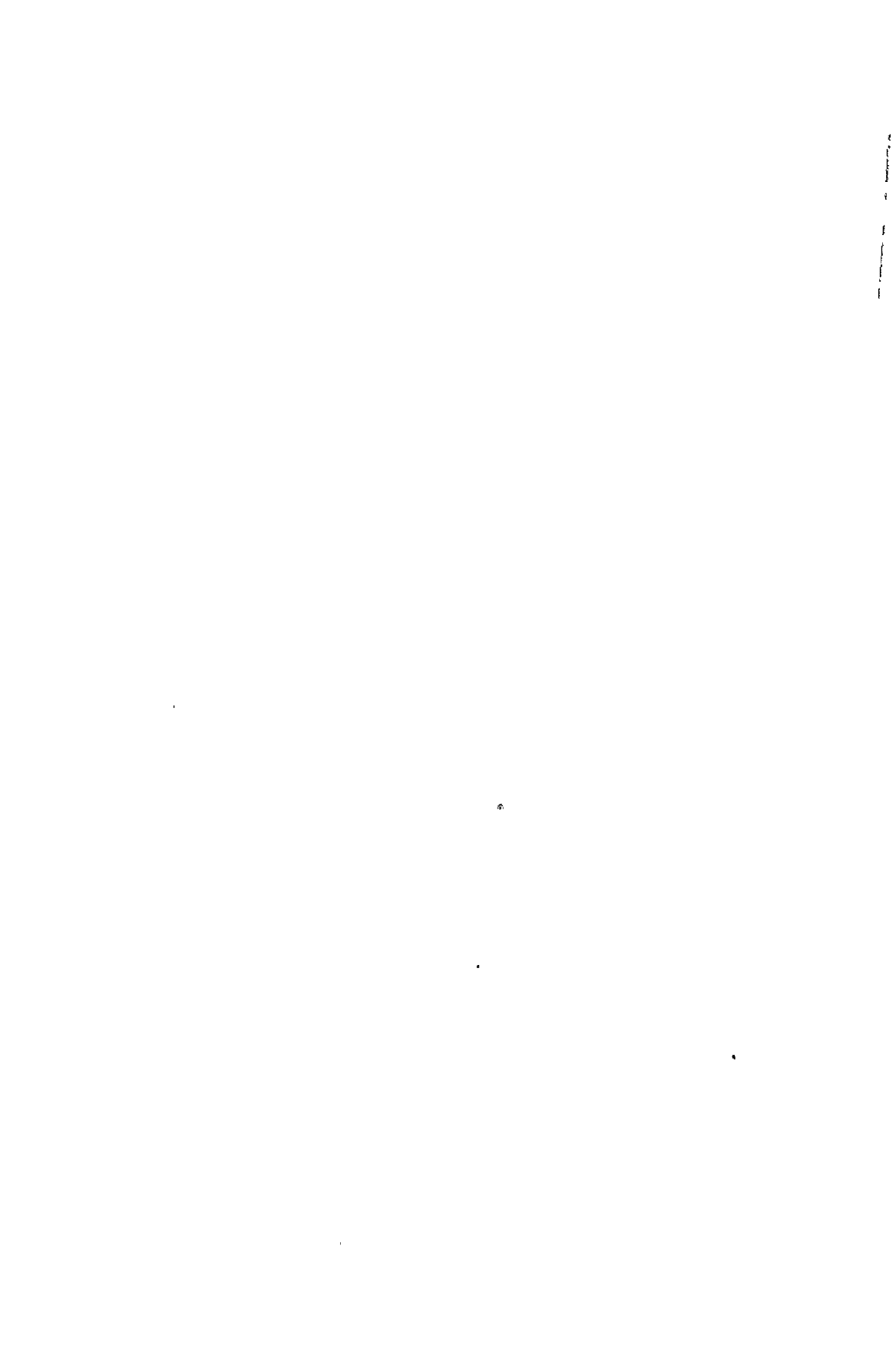
बुशमन-चित्र : दक्षिणी अफ्रीका में ऑरेञ्ज स्प्रिङ्ग के समीप स्थित एक शिलाश्रय में अङ्कित शिलाचित्र जिसमें मुखाच्छादनधारी व्यक्ति छड़ियाँ लिये केन्द्र में पशु-नृत्य कर रहे है तथा अन्य दर्शक ताली बजा-बजा कर उसमें सहयोग दे रहे हैं। इस चित्र की अनुकृति का श्रेय हेलेन टङ्ग को है।

## फ्रांस

स्पेन की तरह फ्रांस भी प्रागैतिहासिक चित्रों की दृष्टि से अद्भुत सम्पन्नता रखता है। लास्को की खोज से बहुत पूर्व रिवियेर (Riviere) द्वारा १८९५ में ही दक्षिण-पश्चिमी फ्रांस के उसी दार्दान् (Dordogne) प्रदेश में ला-मूथ कावेर्न (La mouthe Cavern) के गुफा-चित्रों का परिचय प्राप्त किया गया। इससे स्पेन के चित्रों की प्रामाणिकता का पक्ष सबल होने लगा। १८९६ मे देलो (Deleau) ने पेरोनी (Pair-non-Pair) नामक गुफा की शोध की। १९०१ मे कैपिटन (Capiton) और पाइरोनी (Peyrony) ने फ़ाँ-द-गॉ (Font-de-Gaume) नामक सुप्रसिद्ध गुफा के विपुल चित्र-वैभव का उद्घाटन किया और १९०८ में कार्तेलाक् (Cartailhoc) तथा रेन्यॉ (Regnault) के संयुक्त प्रयत्न से मार्सूलास (Marsulas) के चित्र प्रकाश में आये। इतने स्थानों पर शिला-चित्रों की खोज होने के बाद और भी अनेक चित्रित गुफाएँ समय-समय पर खोजी जाती रही तथा रूप और शैली की इतनी विविधता सामने आयी कि पुरातन कला के विशेषज्ञों को उसका सम्यक् आकलन करना भी दुष्कर हो गया। इस खोज की चरम सीमा १९४० में लास्को की अप्रतिम चित्रराशि की उपलब्धि से हुई जिसका विशेष अध्ययन १९४९ में फर्नेण्ड विण्डेल्स (Fernand Windels) की प्रकाशित 'दि लास्को केव पेंटिंग्स' (The Lascaux Cave Paintings) नामक पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है। इस कृति का महत्व एच० ब्रूई (H. Breuil) के आमुख, सी० एफ० सी० हाक्स (C.F.C. Hawkes) की भूमिका तथा लिण्डसे ड्रमण्ड (Lindsay Drummond) की टिप्पणियों से और भी बढ़ गया है और लास्को के चित्रो तथा उनसे सम्बद्ध अनेकानेक समस्याओं का इससे यथेष्ट परिचय प्राप्त किया जा सकता है। आल्तामीरा के पश्चात् योरोप की चित्रित प्रागैतिहासिक गुफाओं में लास्को का स्थान सर्वोपरि माना जाता है। दोनों ही प्रायः समान रूप से विश्वविख्यात हुई। बाद में खोजे जाने पर भी महत्व की दृष्टि से लास्को के चित्र आल्तामीरा के चित्रों से किसी भी प्रकार कम नहीं कहे जा सकते। प्राचीनता की दिशा में तो उनका महत्व कुछ अधिक ही स्वीकार किया गया है। लास्को के चित्र आरिग्नेशियन काल के माने जाते हैं जब कि आल्तामीरा के मैग्डालीनियन काल के ही है जो उसके बाद आता है।[६]

लास्को की शोध-कथा भी आल्तामीरा की खोज की पूर्वोक्त घटना से कम रोचक नही है। १९४० के सितम्बर १२ को पाँच लड़के अपने खोये हुए कुत्ते तक पहुँचने के लिए एक छेद को खोदते-खोदते लास्को के युगों से अज्ञात चित्रागार मे जा गिरे। लास्को की गुफा लगभग २० गज लम्बी और १० गज चौड़ी है तथा उसकी दीवारों के ऊपरी भाग और छत में अनेक गतिशील घोडों, बारहसिंगों, प्रधावित उग्र बन-महिषों तथा वृषभों के अद्वितीय शक्ति-सम्पन्न बहुवर्णिक चित्र अङ्कित हैं जिनकी शैली जल-रंगों की प्रवहमानता से युक्त सर्वथा विशिष्ट है।

## स्पेन और फ्रांस के शिला-चित्रों का वर्गीकरण

ओवरमायर और बर्किट दोनों ने फ्रांस तथा स्पेन के चित्रों को संयुक्त रूप से 'फ्रैंको कैण्टेब्रियन ग्रुप' (Franco Cantabrian Group) नामक वर्ग मे रक्खा है।[१] ओवरमायर ने इस वर्ग के तीन विकास स्तर निर्दिष्ट किये हैं[*] लोयर पहला विकास-स्तर

है जिसमे वे पशुचित्र आते हैं जिनमे पशुओ के अनगढ उभार काले पीले और लाल रगो मे अङ्कित हाथ की छाप भी इसी स्तर से सम्बद्ध हैं दूसरे अथवा अपर आरिग्नेशियन नाम के विकास स्तर के पशु-चित्रों मे प्राकृतिक एवं यथार्थ रूप-सादृश्य विशेषतः लक्षित होता है। काले और लाल रंगों द्वारा रूप आलेखन करते हुए शरीर के उभारों के अतिरिक्त सूक्ष्म आवयविक-चित्रण भी किया गया है। तृतीय विकास स्तर जिसे 'लोअर मेग्डालीनियन' की सज्ञा प्रदान की गई है, चित्रों के कलात्मक उन्नयन का श्रेष्ठतम स्वरूप प्रस्तुत करता है। अनुपात और सूक्ष्मालेखन का चित्राङ्कन में साधिकार समावेश हुआ है। मूल चित्रण काले रंग में करके उसे भूरे और लाल से आपूरित किया गया है। इस प्रकार के पशु-चित्रों में वन-महिषों (bisons) के चित्र विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं।

एच० ब्रूई ने फ्रांस-स्पेन और इटली के गुफाचित्रों के विकास की चार सौ शताब्दियों का जो अध्ययन प्रस्तुत किया है उसके अन्त में एक कालानुक्रममूलक वर्गीकरण भी दिया है। उसमें विकास के निम्नलिखित पांच स्तर माने गये हैं:—[८]

१. आरिग्नेशियन (Aurignacian) २. पेरिगार्डियन (Perigordian)
३. सेल्यूट्रियन (Salutrian) ४. मैग्डालीनियन (Magdalenian)
५. एज़िलियन (Azilian)

## अफ्रीका

लियो फ्रोबेनियस (Leo Forbenius) द्वारा सन् १९१३ में अफ़्रीका के पश्चिमोत्तरी भाग में स्थित अल्जीरिया तक फैली ऐटलस पर्वत की श्रृंखलाओं में अनेक उत्कीर्ण चित्रों (engravings) के साथ-साथ दो वर्ण-विनिर्मित अपेक्षाकृत प्राचीन चित्रों की खोज भी की गयी।[९] जिराफ़, गैंड़े, हाथी, बन-महिष आदि महाकाय पशुओं और विशालतम पक्षी शुतुरमुर्ग के अनेक शिला-चित्र ऐटलस-क्षेत्र में पाये गये हैं। यह जीव उत्तरी क्षेत्र में अप्राप्य हैं। अतः विद्वानों ने अनुमान किया है कि किसी समय जब इस क्षेत्र की जलवायु अधिक उष्ण होगी और उसमें इन जीवों का भौतिक अस्तित्व रहा होगा तभी इन शिला-चित्रों का निर्माण हुआ होगा। घोड़े और ऊँट के चित्र 'लिबियन-बर्बर-ग्रुप' (Libyan-Berber-Group) से सम्बद्ध किये जाते है तथा उनका रचनाकाल बहुत बाद का माना जाता है।[१०] इन दो प्रकार के चित्रों के अतिरिक्त सहारा-क्षेत्र के चित्र भी अपनी स्वतन्त्र शैलीगत विशेषताएँ रखते हैं तथा वे प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। बुशमन-चित्रों (Bushman-Paintings) से उनकी निकटता लक्षित की गयी है। दोनों में अनेक वर्णों का प्रयोग मिलता है तथा प्राकृतिक यथार्थ रूपालेखन भी दोनों की एक प्रमुख विशेषता कही जा सकती है। एक अन्वेषक दल ने १९३५ में तासिली (Tasili) पर्वत-क्षेत्र के दक्षिण-पश्चिम में स्थित अहागा (Ahagger) नामक पठारी भू-भाग में कुछ अन्य बहुवर्णी चित्र खोज निकाले हैं।[११] इनमें अधिकतर पशुओं का ही आलेखन हुआ है। कहीं-कहीं कुछ गतिशील मानवाकृतियाँ भी चित्रित मिलती हैं। इनका भी बुशमन चित्रों से साम्य लक्षित किया गया है। इजिप्ट के पुरातन चित्रों से भी इनकी समता की गयी है और इतना ही नहीं काउण्ट द शासेलो लोबाट' (Count de Chasseloup Laubat) ने उस समता के आधार पर
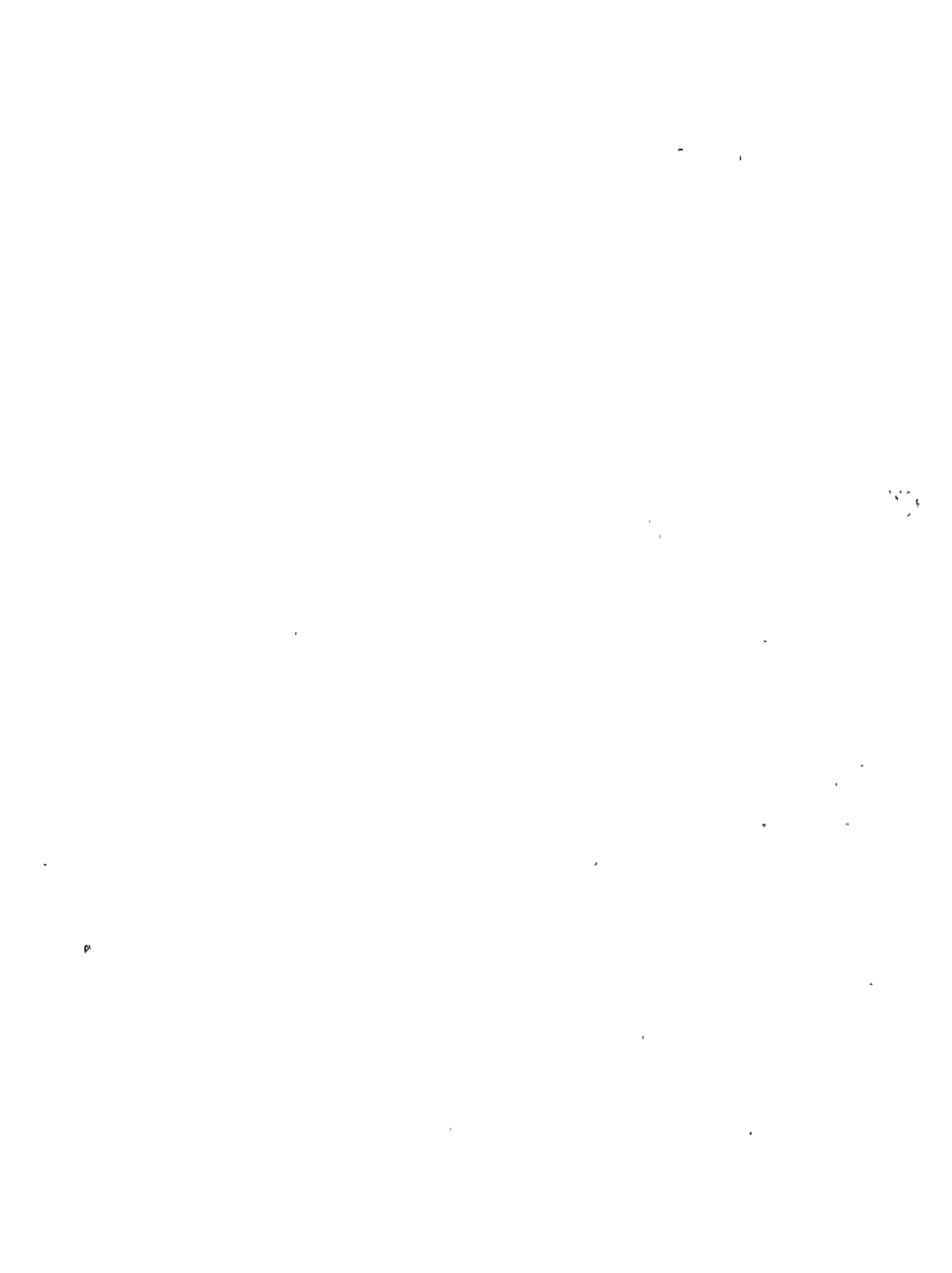
बुशमन शैली का एक श्वेतवर्णी शिलाचित्र जिसमें अंशतः भूरे रङ्ग का भी प्रयोग हुआ है। यह चित्र दक्षिणी अफ्रीका के बसूटोलैण्ड में थावा बोसिगो जिले के लियाप्परिङ्ग नामक स्थान पर
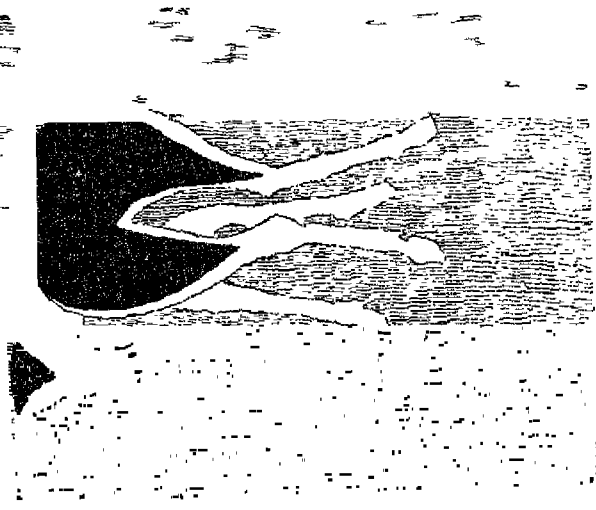
बुशमन-शिलाचित्र : दक्षिणी अफ्रीका के नटाल

इनके रचयिताओं को इजिप्ट की संस्कृति का जनक तक मान लिया किन्तु इसका खण्डन लायोंहार्ट आडम (Leonhard Adam) ने अपनी पुस्तक में स्पष्ट रूप से किया है।[12] उन्होंने इन्हे नवीन प्रस्तर युग से पहले का नहीं माना है और अधिक से अधिक इनके इजिप्ट के राजवंशी काल और उससे पूर्ववर्ती युग के बीच की कड़ी मात्र होने की सम्भावना स्वीकार की है।

सहारा के रेगिस्तान में इन-एज्ञान (In. Ezzan) नामक शीतल जल-स्रोत से युक्त विश्रामस्थल के समीप की चित्रित गुफा-भित्तियों के चित्रों को ब्रूई अपने फ्रांसीसी भाषा के एक लेख में तीन वर्गों में विभाजित किया है। पहले वर्ग के चित्र आदिम (Primitive) दूसरे वर्ग के गेरुए रंग-वाले चित्र अपेक्षाकृत अधिक परवर्ती तथा तीसरे वर्ग के अश्वों एवं आरोहियो के श्वेतवर्णी चित्र आधुनिक (Modern) कहे गये हैं। ब्रूई ने एक ओर स्पेन के लेवण्टाइन-चित्रों से इनका साम्य लक्षित करते हुए शैलीगत-योजनाबद्धता के कारण इन्हें प्राचीन प्रस्तर युग के अन्तिम काल का बताया है। ए० एच० ब्रॉड्रिक की धारणा है कि इन-एज्ञान के कतिपय चित्र अफ़ीका के दक्षिणी भाग में स्थित रोडेशिया (Rhodesia) और केप (Cape) के चित्रो का स्मरण दिलाते हैं। लायोंहार्ट की तरह वे भी अन्ततः दक्षिणी और पूर्वी अफ़ीका तथा स्पेनिश लेवा के बीच की कड़ी के रूप में सहारा के इन चित्रों की व्याख्या करते हैं।[13] विलविया-रेगिस्तान की उवेनाट (Uwenat) पहाड़ियों से ऐसे चित्र अवश्य उपलब्ध हुए हैं जिनसे उलझे सम्बन्ध-सूत्र की इस जटिल समस्या पर कुछ और प्रकाश पड़ता है तथा पूर्वोक्त द्विपक्षी साम्य और अधिक मुखरित हो उठता है।[14] उवेनाट चित्रों और बुशमन चित्रों, दोनों में स्त्रियों का आलेखन उनके नितम्ब भाग को सामान्य अनुपात से कहीं अधिक उभार देकर किया जाता है।

दक्षिणी अफ़ीका के ट्रांसवाल, रोडीशिया, केप तथा टाँगाँयीका (Tonganyika) आदि प्रमुख क्षेत्रों तक बुशमन-चित्रों के प्रभाव सूत्र फैले हुए मिलते है। टाँगाँयीका झील के समीप-वर्ती चित्रों की परवर्ती खोज १९३४-३६ में लुडविग (Ludwig) तथा मारगिट (Margit) द्वारा और पूर्ववर्ती खोज एफ० टी० बैंगशा (F. T. Bagshawe) द्वारा सम्पन्न हुई। 'आरेंज फ्री स्टेट' में सन् १९४६ में बातिस (Battics) नामक शोधक ने पशु-समूह का एक महत्वपूर्ण चित्राङ्कन खोज निकाला।[15] पीतवर्ण, लघुकाय मानवों की वर्तमान बुशमन जाति के पूर्वज ही प्रस्तरयुगीन बुशमन-कला के वास्तविक जनक रहे हैं। इस जाति में शिला-चित्रों के अङ्कन की परम्परा आज तक जीवित है। नये चित्रों के निर्माण के अतिरिक्त इसके भी प्रमाण हैं कि बुशमन लोगों द्वारा प्रागैतिहासिक चित्रों में १८वीं १९वीं शती ई० तक संशोधन किया जाता रहा। कुछ विद्वानों ने प्रागैतिहासिक बुशमन-चित्रों और वर्तमान बुशमन-जाति की चित्रण परम्परा में अन्तर देखकर यह भी अनुमान किया है कि सम्भव है पुरातन चित्र घुमन्तू हेमाइट लोगों की कृति रहे हों परन्तु अधिक विद्वान इस पक्ष में नहीं है। एच० बैल्फर (H. Balfour), ए० क्रोबर (A. Kroeber) सी० जी० सेलिग्मन (C. G. Seligman) तथा लायोंहार्ट आडम सब यही मानते हैं कि वे चित्र वर्तमान बुशमन जाति के पूर्वजों ने ही बनाये हैं।[16] ऐसी धारणा भी व्यक्त की गयी है कि 'स्पेनिश लेवण्टाइन चित्रों के निर्माण का श्रेय भी इसी जाति के पूर्वजों को मिलना चाहिये। परन्तु योरोप के अधिकांश विद्वानों ने इसका तीव्र विरोध किया है बहुवर्णी बुशमन चित्र शैली की प्राचीन-नवीन अनेक भी प्राप्त होती हैं सजीवता

तथा शक्तिसम्पन्नता बुशमन-कला की मुख्य विशेषताएं कही जा सकती हैं। परिप्रेक्ष्य का असाधारण प्रयोग केवल बुशमन चित्रों में ही मिलता है, अन्य शिला-चित्रों में यह बात लक्षित नहीं होती है। यह जाति बहुत काल तक आखेट-जीवी अवस्था में ही रही। 'काफिर' जाति के आक्रमणों से इसके स्वभाव मे आमूल परिवर्तन उत्पन्न हुआ जो परवर्ती काल के बुशमन-चित्रो मे स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।

एम० बर्किट ने 'South Africa's Past in Stone and Paint' मे तथा सी० लो (C. Lowe) ने अपनी पुस्तक 'Prehistoric Art in South Africa' में अफ्रीका के प्रागैतिहासिक चित्रों का विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया है। बुशमन-कला पर एच० ओबरमायर, एम० एच० टंग (M. H. Tongue) तथा एच० बैल्फर ने स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं।

## आस्ट्रेलिया, साइबेरिया आदि अन्य देश

अफ्रीका की बुशमन-कला के सदृश आस्ट्रेलिया में भी गुफा-चित्रों की परम्परा प्रागैतिहासिक युग से वर्तमान समय तक प्रायः अखण्ड रूप से जीवित मिलती है। आस्ट्रेलियन आदिवासियों की परम्परागत संस्कृति का उसमें प्रत्यक्ष दर्शन होता है। यह भी अनुमान किया गया है कि सम्भवतः उनका मूल निवासस्थान दक्षिण भारत था।[१७] उनकी कला मे चित्रण का विशेष स्थान रहा है। सिडनी-क्षेत्र के चित्रों का विशेष अध्ययन फ्रेडरिक डी० मैकार्थी (Frederick D. MacCarthy) तथा उसके सहयोगियों द्वारा सम्पन्न हुआ है। उत्तरी किम्बर्ले के शिलाश्रयो मे चित्रित रहस्यमय आकृतियों की सर्वप्रथम खोज जार्ज ग्रे (Sir George Gray) ने १८३७ ई० में की तथा १८२९ में उनको प्रथमवार प्रकाशित किया गया। ए० पी० एल्किन (A. P Elkin) ने आस्ट्रेलिया के शिलाचित्रों के विषय में अपना महत्वपूर्ण अध्ययन 'Rock Paintings of North-west Australia' नाम से १९३० में प्रस्तुत किया। और भी अनेक विद्वानो ने इस दिशा में कार्य किया है।

वी० गॉलूव्यू (V. Goloubew) ने फ्रेंच इण्डोचीन स्थित चापा (Chapa) के समीपस्थ शिलाश्रयों में चित्रित अनेक लांगूल-भूषित मानवाकृतियों की खोज की। न्यू गाइना में भी इसी प्रकार के अनेक शिलाचित्रों की उपलब्धि हुई है जिनमें चार प्रकार की शैलियाँ स्पष्ट रूप से लक्षित होती हैं।[१८]

साइबेरिया और मध्यएशिया में भी शिला-चित्रों की प्राप्ति हुई है। यह दूसरी बात है कि उनकी अतिशय प्राचीनता के विषय में कुछ विशेषज्ञ शंकालु हैं। साइबेरिया में आबेन्स्क (Abensk) के समीप जो शिला-चित्र मिले हैं उनमें अनेक धनुषबाणधारी आखेटक चित्रित दिखाई देते हैं। दो नग्न पुरुष भी अङ्कित मिलते है जिनमें एक भाला लिए हुए है। ऐसे शीत प्रदेश में नग्न मानवाकृतियों का चित्रण अति प्राचीनता का परिचायक लगता है पर प्राचीन पाषाणास्त्र आदि की उपलब्धि से समर्थित न होने के कारण विशेषज्ञ इन्हें नवीन प्रस्तर युग का मानने में भी संकोच करते हैं।[१९] नये शोधक नवीन उपलब्धियों के प्रकाश में इन चित्रों के महत्व पर पुनर्विचार करें यह स्वाभाविक है।

इस क्षेत्र में प्राप्त अन्य चित्र अपेक्षाकृत बहुत नए हैं और उन्हें ईसा की प्रथम

सहस्राब्दी में रखना उचित समझा जाता है। इधर कुछ रूसी पुरातत्ववेताओं ने जो खोज की है उससे साइबेरिया में पाषाणयुगीन कला का अस्तित्व असंदिग्ध हो गया है। रूसी एशिया में प्रागैतिहासिक चित्रों की सर्वप्रथम उपलब्धि के विषय में एक लेख 'मास्को न्यूज़' में २७ जनवरी, १९४५ को प्रकाशित हुआ जिसका शीर्षक था 'फर्स्ट फाइण्ड्स आफ प्रिहिस्टारिक पेंटिंग इन सोवियत एशिया' और उसके लेखक थे एम० नीगा (Mezhdunarodnaya Kniga)। पूर्वी साइबेरिया के याकुत्स्क (Yakutsk) क्षेत्र मे लेना घाटी (Lena Valley) के मध्य और ऊपरी भाग में प्रोफेसर ओक्लादनिकोव (Okladnikov) को अस्सी के लगभग ऐसे स्थल मिले जिनमे बहुसंख्यक शिला-चित्र अङ्कित हैं। मिस तात्याना पासेक (Miss Tatyana Passek) जो मास्को की विज्ञान अकादमी से सम्बद्ध हैं इसी घाटी मे स्थित शिश्किनो (Shiskino) नाम ग्राम के समीप लाल रंग में अङ्कित एक वन्य अश्व का जीवाकार चित्र उपलब्ध किया। इस चित्र का साम्य पश्चिमी योरोप की गुफाओं में अङ्कित पाषाणकालीन पशु-चित्रों मे लक्षित किया गया है।[20] ऐसे ही अन्य अनेक स्थल लेना नदी की सहायक नदियों की घाटियों में खोजे गये हैं। इन स्थलों पर रेंडियर आदि पशुओं के चित्र तथा विविध प्रकार के प्रतीक अङ्कित मिलते है। उज्बेकिस्तान मे जरौत साया गॉर्ज (Zaraut Saya Gorge) की पहाड़ियों पर जो शिला-चित्र मिले हैं उनकी खोज एक शिकारी द्वारा आकस्मिक रीति से हुई। इनमें धनुर्धर योद्धाओं तथा आखेट-दृश्यों का अङ्कन हुआ है। मास्को विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर मिकेल वोयोवोद्स्की (Mikhail Voyevodsky) के अनुसार मध्य एशिया में यह पहली आदिम 'आर्ट गैलरी' है। उन्होंने इसके चित्रों का रचना-काल मिश्र प्रस्तर युग (Mesolithic Age) अनुमानित किया है। कुछ चित्रों के नीचे अरबी भाषा के अभिलेख भी मिलते हैं, जो ११ वीं-१२वीं ईस्वी के हैं अत: उन्हें शिला-चित्रों के निर्माण-काल का द्योतक नही कहा जा सकता। इस क्षेत्र से पुराननमानव-अस्थि-अवशेष भी मिले हैं जिनसे चित्रों की प्राचीनता की सम्भावना बढ़ जाती है। अन्य अनेक विद्वान् इस दिशा में शोध-कार्य कर रहे हैं तथा संसार के और कई भागों में प्रागैतिहासिक चित्र उपलब्ध हुए हैं।

## सन्दर्भ-सङ्केत

१. Prehistoric engravings and carvings on small objects have been recognized as such since about 1840. However, no prehistoric paintings were known until the revelation of the Altamira cave in Northern Spain during the 70's of the last century.—Prehistoric Painting, पृ० ५

२. Prehistoric Painting, पृ० १६

३. वही, पृष्ठ १२

४. वही, पृष्ठ ९—१०

५. Until the discovery of Lascaux in 1940, there were comparatively litt e prehistoric paint ng in France which could be unhasitatingly assigned to an Auri art phase Prehistoric Painting पृ० १९

६. This La caux period is the first peak of prehistoric pictorial art. The magnificient polychrome paintings of Altamira represent the second peak, the peak of Magdalenian times. वही, पृष्ठ १५

७. Primitive Art (१९५४) पृ० ७८

८. 'Four Hundred Centuries of cave art' के अंत में दिए गये अंश— 'An attempt at chronological classification' के अन्तर्गत।

९. Primitive Art, तृतीय संस्करण, पृ० ८२

१०. वही

११. वही, पृ० ८५

१२. वही

१३. Prehistoric Painting, पृ० २७

१४. 'Here, indeed, at 'Uwenat', we find, more marked than anywhere else in northern Africa, examples of an art showing close resemblances to that of Lavantine Spain on the one hand, and to that of prehistoric South Africa on the other.

१५. वही, पृ० ३२

१६. Primitive Art, पृ० ८६

१७. Primitive Art, तृतीय संस्करण, पृ० १५२

१८. Prehistoric Painting पृ० ३६

१९. Primitive Art, वही, पृ० १११-११२।

२०. वही, पृष्ठ ११२

# अद्भुत रामायण : एक अनुशीलन

श्रीमन्नारायण द्विवेदी

वाल्मीकि ने रामायण की रचना कर रामकथा को ऐसा गौरवमय स्वरूप प्रदान कर दिया कि उसकी प्रेरणा से बहुत बाद तक कविगण रामचरित का गुणगान अपना लक्ष्य बनाते रहे और अनेक रामायणों की रचना हुई। वाल्मीकि की रामकथा इन समस्त राम-काव्यों का उपजीव्य ग्रन्थ या कथास्रोत बना रहा। साम्प्रदायिक भावना से ओतप्रोत कतिपय राम विषयक रचनाओं को जो सम्मान उपलब्ध हुआ, उसमें 'अध्यात्म रामायण' अन्यतम है। लगभग इसी के समकालीन एक रचना 'अद्भुत-रामायण' या 'अद्भुतोत्तर काण्ड' है जो वाल्मीकि की ही रचना बतायी जाती है। इस कृति के प्रारम्भ से यह सिद्ध होता है कि इसके रचयिता वाल्मीकि हैं; किन्तु वास्तव मे यह रचना परवर्ती और साम्प्रदायिक ढङ्ग की है। अतः यह वाल्मीकि की देन तो कदापि नहीं है। लगता है, बाद के किसी कवि ने इसकी रचना कर इसके माहात्म्य-वर्धन के लिए इसे वाल्मीकि के नाम से सम्बद्ध कर दिया है। यह प्रवृत्ति अन्यत्र भी देखने को मिलती है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में वाल्मीकि के जितेन्द्रिय शिष्य भरद्वाज उनसे निवेदन करते हैं कि आप द्वारा प्रणीत २५००० सहस्र श्लोक वाला रामायण पृथ्वी में प्रचलित है किन्तु सुना जाता है कि रामायण का विस्तार करोड़ों की सीमा में है। अत आप राम-कथा के गुप्त प्रसङ्गों का उल्लेख कीजिये। अपने शिष्य भरद्वाज द्वारा उस प्रसङ्ग का स्मरण दिलाये जाने पर वाल्मीकि 'सीतामाहात्म्यसार' का वर्णन करते हैं, जो पच्चीस सहस्र रामायण में फूटकर नहीं आ सका है तथा आदि शक्ति सीता के अमोघ रूप का निर्देश कर राम और सीता की मूल एकता का प्रतिपादन कर कथा का विस्तार करते है।

ग्रन्थ के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में दो प्रकार के अभिमत देखने को मिलते है। अध्यात्म रामायण (कलकत्ता संस्करण) की भूमिका में डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने फर्क्युहर के साक्ष्य पर यह सम्भावना व्यक्त की है कि "अद्भुत रामायण अध्यात्मरामायण से पूर्व विद्यमान रही है"।[१] डॉ० वी० राघवन् ने अद्भुत् रामायण में सङ्गीत का विश्लेषण करते हुए इसके रचनाकाल पर भी विचार किया है और इसे राजपूत और मुगल-काल के मध्य उत्तरभारत के किसी भूमि-भाग में रचित बताया है। उनके अनुसार इसे प्राचीनता की दृष्टि से अध्यात्म रामायणं से बहुत पूर्व नहीं खींचा जा सकता। वे आध्यात्म रामायण और अद्भुत् रामायण को राम-साम्प्रदायिक रचना मानते हैं डॉ० ग्रियर्सन ने रामायण के परिप्रेक्ष्य म अदभुत् का विवेचन किया है और इसके लोक ८ क अश तथा शाक्त प्रभाव के कारण इसे आधुनिक रचना माना

है। उन्होंने इसे भयावह शैव (शक्तिवाद) का वैष्णव धर्म के साथ सम्मिलन कराने का एक प्रयोग कहा है।[३] डॉ० फ़ादर कामिल बुल्के ने डॉ० राघवन् एवं ग्रियर्सन के आधार पर अद्भुत रामायण की रचना अध्यात्म रामायण से कुछ काल बाद माना है।[४]

जहाँ तक ग्रन्थ की उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों का प्रश्न है, उनसे भी इसकी रचना की प्राचीनता सिद्ध नहीं होती। अधिकांश हस्तलिखित प्रतियाँ १८वीं शताब्दी के बाद की ही है। कोलब्रुक ने इसकी इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी मे सुरक्षित प्रतियों का परिचय प्रदान करते हुए लिखा है कि "तथाकथित वाल्मीकि द्वारा प्रणीत कहे जानेवाले इस ग्रन्थ की रचना अत्यन्त आधुनिक है क्योंकि इस पर बाद की साम्प्रदायिक विचारधारा की विशेष छाप है।" इस प्रकार इस ग्रन्थ की अत्यधिक प्राचीनता की कोई आशंका नहीं है।

ग्रन्थ के रचना-काल का स्पष्ट उल्लेख न करते हुए भी इसकी विद्यमानता-सम्बन्धी जो निष्कर्ष डॉ० राघवन् ने प्रस्तुत किये हैं, वे विशेष रूप से विचारणीय हैं। डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने इस ग्रन्थ को अध्यात्म रामायण से पूर्व विद्यमान होने का जो अनुमान किया है, उसके लिए उन्होंने स्पष्ट आधार अथवा प्रमाण नहीं प्रस्तुत किये हैं। डॉ० राघवन् ने ग्रन्थ की साम्प्रदायिक विचारधारा के साम्य के आधार पर प्रथमतः यह निष्कर्ष निकाला है कि यह रचना अध्यात्म रामायण से पूर्व नही खींची जा सकती और दोनों ग्रन्थ उस राम-सम्प्रदाय की उपज हैं जो रामानन्द और तुलसी द्वारा विकसित हुआ था। उनका द्वितीय निष्कर्ष इस काव्य में व्यवहृत राग-रागिनियों पर आधारित है। डॉ० राघवन् के अनुसार ये राजपूत और मुसलमान काल से सम्बद्ध प्रतीत होती हैं। उनका तृतीय निष्कर्ष यह है कि दक्षिण के प्रसिद्ध सन्त-गायक त्यागराज एवं प्रस्तुत-ग्रन्थ में उल्लिखित सङ्गीत के सम्भारों में साम्य प्रतीत होता है और त्यागराज की भाँति यहाँ भी गान का योग के रूप मे उल्लेख है। यह सम्भव है कि सामुदायिक दृष्टि से यह अध्यात्म रामायण का समकालीन माना जा सके, किन्तु इसे अठारहवीं शताब्दी के त्यागराज की समसामयिकता में रखे जाने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इस ग्रन्थ के त्यागराज से सम्बद्ध जिन कथात्मक सम्भारों का उल्लेख किया जाता है, वे प्रक्षेप के रूप में आ जुटे धार्मिक लोक-कथा-तत्व ही ज्ञात होते हैं। डॉ० राघवन् का यह अनुमान भी सार्थक-सा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ की रचना उत्तर भारत में हुई। इसका कारण है राम द्वारा शिव और शक्ति की पूजा की साम्प्रदायिक-चर्चा। राम द्वारा शिवार्चन का स्थल दक्षिण भारत रहा। यह ध्यान में रखते हुए कि उत्तर भारत में भी शाक्त-पीठ उपलब्ध हैं, यह सम्भव है कि शक्ति-पूजा उत्तर भारत की उद्भावना हो। अतः सम्भवतः उत्तर भारत में ही रचित इस ग्रन्थ से त्यागराज को बलात् सम्बद्ध करना वैज्ञानिक न होगा। फ़ादर कामिल बुल्के ने इसकी अभिव्यक्ति के साम्प्रदायिक स्वरूप के आधार पर इसका रचनाकाल पन्द्रहवीं शताब्दी ईसवी माना है।

यह भी महत्वपूर्ण है कि इस ग्रन्थ के साम्प्रदायिक रूप के आकलन के आधार पर इसका काल-निर्णय किया जाय तो उससे राम-भक्ति सम्प्रदाय की कालक्रमिक विकास की परम्परागत रूपरेखा को भी समझने में सहायता मिलेगी। अतएव ग्रन्थ के प्रतिपाद्य सामग्री का रूप-विश्लेषण यहाँ अत्यन्त आवश्यक है। साम्प्रदायिक ढङ्ग से अधिक सामग्री सापेक्ष होते हुए भी डॉ० ग्रियर्सन एव डा० राघवन् को छोड कर इसकी ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट नही हुआ इसका कारण

के लोगों ने सामान्यतया इसे हाल की रचना मानकर इसके प्रति उपेक्ष

काण्ड की सामग्री २७ सर्गों में प्राप्य है। काव्य के प्रारम्भ में तपस्वी मुनीन्द्र
ार्थना उपलब्ध होती है जिससे वाल्मीकि के प्रति पूज्य-बुद्धि की बात स्वत
है।

**नमस्तस्मै मुनीन्द्राय श्रीयुताय यशस्विने।**
**शान्ताय सुविनीताय वाल्मीकिमुनये नमः॥**—(अद्भुत रामा० १।२)

मे रामकथा के सम्पूर्ण प्रसङ्गों को न अपनाकर कुछ प्रसंगों को ही अधिक
स्तुत किया गया है, जो साम्प्रदायिक-आग्रह का परिणाम है। काव्य मे
न्दर्भ, अध्यात्म रामायण की भाँति प्रारम्भ में न उल्लिखित कर उपसहार
गया है, जिससे उसकी प्रसङ्गगत सापेक्षता प्रकट होती है।

**यदुक्तमद्भुते काण्डे पुनस्ते कथयाम्यहम्।**
**श्रीरामजन्मवृत्तान्तः श्रीमतीचरितंमहत्॥**
**दण्डकारण्यकस्थानां शोणितेन महात्मनाम्।**
**नारदस्य च शापेन लक्ष्म्याश्चैवापराधतः॥**
**मन्दोदरी गर्भनिष्ठा वैदेही जन्म चोक्तवान्।**
**रामस्य विश्वरूपं च भार्गवेण च वीक्षितम्॥**
**ऋष्यमूके हनुमता चतुर्बाहू रघूत्तमः।**
**दृष्टो भिक्षुस्वरूपेण सुग्रीवसख्यमुक्तवान्॥**
**लक्ष्मणांगजतापेन शोषणं वारिधेः पुनः।**
**प्राप्तराज्यस्य रामस्य मुनीनां सन्निधौ तथा॥**
**सीतायाः कथनं श्रुत्वा सहस्रास्यस्यरक्षसः।**
**मानसोत्तरशैलेन्द्रे स्थितिं ज्ञात्वा रघूद्वहः॥**
**जगाम पुष्करद्वीपं भ्रातृभिः सह वानरैः।**
**सीताया ऐश्वरं रूपं रावणस्य वधस्तथा॥**
**—अयोध्यागमनं रामस्यैष वृत्तान्तसंग्रहः**

राम-जन्म का वृत्तान्त, श्रीमती का चरित, दण्डकारण्य-निवासी ऋषियो का
 अभिशाप एवं लक्ष्मी के अपराध से जानकी का मन्दोदरी के गर्भ से उत्पन्न
रशुराम को विश्वरूप दिखलाना, ऋष्यमूक पर हनुमान को चतुर्भुज रूप मे
मैत्री करना, लक्ष्मण के शरीर से सागर का सूख जाना, (रावण-वध) राज्य
 जानकी द्वारा सहस्रमुख रावण का वृत्तान्त-श्रवण, पुष्करद्वीप-गमन, सीता
रूप और सहस्रमुख रावण का वध एवं राम का अयोध्यागमन इत्यादि
विषय हैं और इनसे स्पष्टतः इसकी कतिपय नूतन एवं चमत्कारी
 चलता है

काव्य के प्रारम्भिक सर्ग में ही इस बात का उल्लेख मिलता है कि इसका लक्ष्य सीता-माहात्म्य-सार-कथन है। सीता सृष्टि की प्रकृति-रूपा, आदिभूत महागुण-सम्पन्न शक्ति और ब्रह्म-ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति करने वाली है। गीता की अनुकृति पर सीता के इस आद्या-शक्ति का रूप-निर्धारण करते हुए यहाँ तक कहा गया है कि जब-जब धर्म की ग्लानि होती है तो अधर्म को नष्ट करने के लिए प्रकृति सम्भव होती है—

**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति सुव्रत।**
**अभ्युत्थानमधर्मस्य तदा प्रकृति सम्भवः।**—(अद्भुत रा० १।१८)

और यहीं पर राम के परब्रह्म-रूप का उल्लेख कर यह कहा गया है कि वे परमपुरुष है, और राम-सीता मे कोई भेद नहीं है।

**रामः साक्षात्परं ज्योतिः परं धाम परःपुमान्।**
**आकृतौ परमो भेदो न सीतारामयोर्यतः।** (वही—१।१९)

वे साक्षात् परमेश्वर है, सारी समष्टि में व्याप्त है, '**भौतिकचरण-हस्तादि से रहित होकर भी सर्वत्र व्याप्त, गमन और ग्रहण करने वाले हैं; वे विश्व को जानते हैं पर उनको जानने वाले कोई नहीं हैं, वे पुराण पुरुष हैं।...**'

द्वितीय से चतुर्थ सर्ग तक में राम-जन्म के कारणभूत प्रख्यात कथा नारद-मोह का वर्णन है। अम्बरीष राजा की पुत्री श्रीमती को छल से प्राप्त कर लेने पर नारद विष्णु को शाप देते है कि आप अम्बरीष-कुल में राजा दशरथ के यहाँ उत्पन्न होंगे और श्रीमती धरिणी की पुत्री होगी जिनका पालन विदेह करेगा। राक्षसों में नीच आपकी पत्नी का अपहरण करेगा। विष्णु स्वत नारद के शाप को अङ्गीकृत करते हुए दशरथ कुल में राम-रूप से अपने जन्म को स्वीकृत करते है और अपनी दायीं भुजा से भरत, बायीं भुजा से शत्रुघ्न तथा शेष से लक्ष्मण के जन्म लेने का उल्लेख करते हैं। यह सम्पूर्ण आख्यान साम्प्रदायिक वैष्णव परम्परा से उपोद्बलित है। नारायण के नाम-जप के उल्लेख के अतिरिक्त विष्णु के पर्यायवाची नाम, पुरुषोत्तम, कृष्ण, गोविन्द, हृषीकेष, माधव, जनार्दन, दामोदर, एवं हरि-इत्यादि कतिपय संज्ञाओं का फुटकर प्रयोग हुआ है जो इतने व्यापक रूप में अध्यात्म रामायण में भी नहीं मिलता। स्थान-स्थान पर साम्प्रदायिक रूप-आयोजन भी विश्लेषणीय है। अम्बरीष अपनी तपस्या के परिणामस्वरूप अपने सामने इन्द्र को देखकर आकुल हो उठता है, वह उन्हें तुरन्त पलायन करने को कहता है, क्योंकि उसके स्वामी तो नरायण ही हैं—

**नाहं त्वामभि सन्धाय तप आस्थितवानिह।**
**त्वया दत्तं च नेच्छामि गच्छ शक्र यथासुखम्॥**
**मम नारायणो नाथस्त्वां न तोषेऽमराधिप।**
**व्रजेन्द्र मा कृथास्त्वत्र ममाश्रमविलोपनम्॥** (वही—२।२७, २८)

और पुनः वही अम्बरीष इन्द्र को विष्णु-रूप में परिवर्तित अपने सामने खड़ा देखकर उनके ।रण में प्रणत हो अनन्यभक्ति चाहता है क्योंकि उनके सिवाय उसकी और कोई गति नही है

**'नान्या गतिस्त्वदन्या मे त्वामेव शरणं गत:'**—(२।३५)' वह विष्णु में निरन्तर मति चाहता है—**'त्वयि विष्णौ परानन्दे नित्यं मे वर्ततां मतिः**—(२; ३८)' विष्णु की सेवा में सलग्न हो, इस पृथ्वी को विष्णुभक्तों से भर देना चाहता है—**'पालयिष्यामि पृथिवीं कृत्वा वै वैष्णवं जगत्**—(२।३९)' अम्बरीष के राज्य में घर-घर नारायण का नाम घोष सुनने को मिलता था और सभी यज्ञ-परायण थे—**'नामघोषो हरेश्चैव यज्ञघोषस्तथैव च**—(२।४७)' राम मे परब्रह्मत्व की प्रतिष्ठा कर यहाँ कहा गया कि 'वे महेश की माया के आश्रित हो मानुषी शरीर को प्राप्त हुए'। इस कारण उनमें दोष जानने वाले महात्माओं का माया कहना उचित नही है।

**मायां कृत्वा महेशस्य प्रोत्थिता मानुषी तनुः।**
**तस्मान्माया न कर्तव्या विद्वद्भिर्दोषदर्शिभिः ।।—(वही-४।७७)**

यह कथा भी **'मायामनुष्योहरिः'** जैसे वाद की राम-साम्प्रदायिक मनोवृत्ति की पुष्टि करती हे। **'अनुग्रहाय भक्तानां प्रभूणामीदृशी गतिः'**—(अद्‌भुत श्लोक ७७) तथा तुलसी के 'भगत हेतु भगवन्त प्रभु लीन्ह मनुज अवतार' में बहुत पार्थक्य नहीं दिखायी पड़ता है।

सर्ग पाँच से लेकर आठ तक जानकी जन्म लेने के कारण का वर्णन है। यह कथा अत्यन्त विस्तृत ओर कई प्रकार की नवीन उद्‌भावनाओं से भरी हुई है। इन समस्त सर्गों में गान-विद्या के महत्व का आख्यान किया गया है। पञ्चम सर्ग में कौशिक नामक ब्राह्मण, प्राकृत पार्थिव राजा का गुणगान करना अस्वीकृत कर देता है और नारायण-स्मरण के समक्ष उसे तुच्छ समझता है। राजा द्वारा विवश किये जाने पर वह अपना जिह्वा-छेदन कर लेता है। भगवान् नारायण उसकी निष्ठावश उसे गणाधिपत्य पद प्रदान करते है। छठें सर्ग में हरिमित्र का उपाख्यान है। विष्णुलोक मे लक्ष्मी के सान्निध्य में कौशिक की गान-निपुणता के सम्मानवश एक गोष्ठी होती है। लक्ष्मी के यहा तुम्बरु नामक गन्धर्व का गान-विद्या-विशारद होने के कारण आदर होता है और ब्रह्मादि एव नारद की उपेक्षा होती है। इस प्रकार लक्ष्मी द्वारा उपेक्षित होने पर नारद उन्हें राक्षसी द्वारा उपेक्षित होने का शाप देते है। लक्ष्मी के द्वारा इसे स्वीकार कर लिये जाने पर स्वतः विष्णु गान-योग की महानता का आख्यान करते हैं और नारद को गान-विद्या प्राप्ति के लिए उलूक के यहाँ प्रेषित करते हैं। गानबन्धु उलूक ने बताया कि पूर्व जन्म में मैं एक राजन्य था। मैंने हरमित्र नामक एक गान-विद्याविशारद और वासुदेवपरायण ब्राह्मण की उपेक्षा कर दी थी जिसके कारण मुझे यह निकृष्ट योनि प्राप्त हुई और पुनः उस हरिभक्ति-परायण ब्राह्मण के द्वारा ही मुझे गानाचार्य-पद की प्राप्ति हुई। सप्तमसर्ग में नारद गानबन्धु से शिक्षा पाकर भी गान में प्रवीण नहीं हो पाते, क्योंकि उनमे तुम्बरु से प्रतिद्वन्द्विता की भावना बनी रहती है। अन्ततः वे कृष्ण की पत्नियों एवं स्वतः कृष्ण द्वारा गान-विद्या में प्रवीणता को प्राप्त होते हैं और उनके हृदय में गान के प्रति पूर्ण आस्था उत्पन्न होती है। उनके मन से तुम्बरु से प्रतिद्वन्द्विता की भावना विलुप्त हो जाती है। अष्टम सर्ग में देवताओ के शोषण से प्राप्त रक्त का पानकर रावण की पत्नी मन्दोदरी गर्भिणी हो जाती है और पति के साहचर्य से वर्षों से वंचित रहने के कारण लोकलाज से कुरुक्षेत्र में गर्भ-निपात कर उसे पृथिवी मे प्रतिष्ठित कर देती है जिसके विदेह के कर्षण से जानकी की उत्पत्ति होती है

ये समस्त सर्ग गानयोग के वर्णन के लिए रचित हैं। विष्णु के नामस्मरण से सायुज्य की प्राप्ति इस सर्ग का प्रमुख प्रतिपाद्य है जिसे कतिपय कथाओं के आश्रय से कहा गया है। भक्ति में गान के महत्व-प्रकाशन की अद्‌भुत् सामग्री इस ग्रन्थ में उपलब्ध होती है। कई स्थलों पर इस प्रसङ्ग का आधार भी गीता ही प्रतीत होती है। नारायण का नारद से यह कथन "कि मैं दान, तप, इज्या, तीर्थ से उतना प्रसन्न नहीं होता हूँ जितना नाम-कीर्तन से। नामगान करने-वाला मेरे सायुज्य को प्राप्त करता है"—गीता से प्रभावित है।

> नाहं दानेन तपसा नेज्यया नापि तीर्थतः।
> सन्तुष्यामि द्विजश्रेष्ठ यथा नाम्नाप्रकीर्तनात् ॥
> गानेन नामगुणयोर्मम सायुज्यमाप्नुयात् ।—(वही—६।२७-२८)

गीता के एकादश अध्याय में कृष्ण अर्जुन से किंचित् परिवर्तन सहित इसी प्रकार कहते है कि मैं वेद, तप, दान से प्रसन्न नहीं होता, अपितु अनन्य भक्ति ही मुझे प्रिय है—

> नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
> शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
> भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
> ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥—(गीता ११/५३-५४)

इन सर्गों की दूसरी विशेषता लोककथात्मक तत्व की दृष्टि से भी अनुशीलन योग्य है। कौशिक के जिह्वाछेदन का प्रसङ्ग, प्राकृत या पार्थिव राजा की उपेक्षा, नारायण के प्रति परायणता-धार्मिक कथा-तत्व भक्ति या भक्तों के कई अन्य प्रसङ्ग में भी देखे जा सकते हैं। मन्दोदरी से जानकी उत्पत्ति की ओर लोककथाओं में सङ्केत मिलता है। जैन-साहित्य में भी जानकी-उत्पत्ति का उल्लेख मन्दोदरी से ही हुआ है। साम्प्रदायिक वैष्णवी परम्परा से प्रारम्भ इस काव्य में जानकी के इस रूप का आयोजन अद्‌भुत् स्थिति के प्रस्तुतीकरण के लिए ही हुआ है, साथ ही जानकी के स्वरूप मे विविध प्रकार की स्वतन्त्र स्थितियों का सर्जन भविष्य की कथा की दृष्टि से हो सकता है। आगे चलकर सीता के स्वरूप में जो अद्‌भुत परिवर्तनो की सरणि खड़ी की गयी, लगता है, यह उसकी प्रारम्भिक भूमिका थी।

लगभग नवें सर्ग से लेकर पन्द्रहवें सर्ग तक की कथा में कथा, कम रह गयी है, दार्शनिक विवेचन अधिक हो गया है। इन सर्गों में प्रतिपादित समस्त सामग्री पर गीता की स्पष्ट छाप दिखायी पडती है। नवम सर्ग में राम, परशुराम को विश्वरूप दिखलाते हैं और तदर्थ वे उन्हें दिव्य-चक्षु प्रदान करते है। परिणाम स्वरूप भार्गव परशुराम, रामचन्द्र के शरीर में आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य, मरुत्, पितृ, अग्नि, नक्षत्र, ग्रह, गन्धर्व, राक्षसादि का दर्शन करते हैं।

> ततो रामशरीरे वै रामोऽपश्यत्स भार्गवः।
> आदित्यान्सवसून्रुद्रान्साध्यांश्च समरुद्‌गणान्।
> पितॄन्हुताशनांश्चैव नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा।
> गन्धर्वा यानि च॥— अद्भुत० ९।१८-१९)

गीता (एकादश सर्ग) में अर्जुन को भगवान् कृष्ण अपना विश्वरूप देखने में अक्षम समझते
त उन्हें दिव्य-चक्षु प्रदान करते हैं—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ (गीता—११।८)

इसके उपरान्त कृष्ण, अर्जुन को अपना विराट् विश्व-रूप प्रदर्शित कराते हैं—

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥
रुद्रादित्यावसवो ये च साध्या,
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्ध संघा,
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥ (वही—११।६,२२)

गीता के विषयवस्तु, शब्दावली, वर्णन-प्रक्रिया, सभी ने अद्भुतरामायण के इस प्रसङ्ग
ाणित किया है।

दसवें सर्ग में हनुमान, राम के विश्वरूप का दर्शन करते हैं और आश्चर्यचकित हो जाते हैं।
इस अलौकिक रूप का भागवती परम्परा के अनुकूल वर्णन हुआ है जिसमें उन्हें किरीट-
चतुर्भुज, देवाताओं-मुनियों से सेवित ज्योतिपुञ्ज इत्यादि कहा गया है—

...को भवानिति चोक्तेऽथ चतुर्बाहुं किरीटिनम्॥
शंखचक्रगदापाणिं वनमालाविभूषितम्...॥
देवर्षिपितृगन्धर्वैः सिद्धविद्याधरोरगैः।
सेव्यमानं महात्मानं पुण्डरीकविलोचनम्॥
सहस्रसूर्यसंकाशं शतचन्द्रशुभाननम्।
फणासहस्रमतुलं धारयन्तं च लक्ष्मणम्॥

—(अद्भुत १०।११,१२,१४,१५)

गीता (एकादश सर्ग) में अर्जुन ने भगवान् के जिस विराट् रूप का दर्शन किया था, उससे
ङ्ग बिल्कुल अनुप्राणित-सा प्रतीत होता है। केवल इसके सिवा कि गीता में चतुर्बाहु शब्द
ल्लेख वहाँ नहीं मिलता, सारी सामग्री लगभग वही है।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च,
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥—(गीता—११।१७)

× × ×

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या,
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोश्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्ध सङ्घा.
वीक्षन्ते त्वा सर्वे। वही— ११।२२)

ग्यारहवें सर्ग में सांख्य योग का वर्णन है। यह सांख्य योग, राम हनुमान से वर्णित करते हैं। सर्ग के प्रारम्भ में ज्ञान को बार-बार गुह्य कहा गया है। **'अवाच्यमेतद्विज्ञानमात्मगुह्यं सनातनम्'** एवं **'गुह्याद्गुह्यतमं साक्षाद्गोपनीयं प्रयत्नतः'**—इस प्रकार की ज्ञान की गोपनीयता अन्य साम्प्रदायिक रामायणों में प्रचुरता से मिलती है। तन्त्रों में ज्ञान या साधना की गुह्यता पर अधिक बल दिया गया है। सम्भवतः यह परम्परा उपनिषदों से विकसित होकर आयी है। इस सर्ग में परम्परा अनुमोदित सांख्ययोग का वर्णन उपलब्ध है। यहाँ परमात्म-तत्व की अद्वैतगत स्थिति का बड़ा ही सहज वर्णन देखने को मिलता है। आत्मा केवल स्वच्छ, शान्त, सूक्ष्म एवं सनातन है—**'आत्मा यः केवलस्वच्छः शान्तः सूक्ष्मसनातनः—११।५।'** वह अन्धकार से परे अन्तर्यामी पुरुष प्राण और महेश्वर है। वही मायावी माया से बद्ध होकर अनेक शरीर धारण करता है। न कोई इसे चला सकता है, न यह चलता है।

**मायावी माययाबद्धः करोति विविधास्तनूः।**
**न चाप्ययं संसरति न च संसारयेत्प्रभुः॥**—(अद्भुत० ११।८)

पुनः **'आत्मा नित्य और सर्वत्रगामी है, कूटस्थदोषवर्जित एक ही वह अपने माया-स्वभाव से अनेक प्रकार का दीखता है।'** यही कारण है कि मुनिजन परमार्थ से अद्वैत का कथन करते हैं—

**"तस्माद्वैतमेवाहुर्मुनयः परमार्थतः"**

इस सर्ग की समस्त सामग्री भी अत्यन्त समीपता से गीता के दार्शनिक विचार का संक्षेप के साथ अनुसरण करती है। कतिपय प्रसङ्गों में गीता-ज्ञान की मूक गूँज भी मुखर हो जाती है। यहाँ राम हनुमान से कहते हैं कि मैं सबको जानता हूँ और मुझे कोई नहीं जानता है और तत्वदर्शी मुझको एक महान् पुरुष कहते हैं—

**वेदाहं सर्वमेवेदं न मां जानाति कश्चन।**
**प्राहुर्महान्तं पुरुषं मामेकं तत्वदर्शिनः॥**—(वही—११।५०)

गीता में भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि, हे अर्जुन ! पूर्व में व्यतीत हुए और वर्तमान में स्थित तथा आगे आने वाले समस्त भूतों को मैं जानता हूँ परन्तु मुझे कोई भी श्रद्धा-भक्ति-रहित पुरुष नहीं जानता—

**वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।**
**भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥** (गीता ७।२६)

सांख्ययोग के प्रसङ्ग में हनुमान से राम यह कहते हैं कि जिस प्रकार नदी-नद समुद्र में जाकर एकता को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार यह निष्कल आत्मा अक्षर में मिलकर एकता को प्राप्त होती है—

**यथा नदीनदा लोके सागरेणैकतां ययुः।**
**प्रभेत ।— अद्भुत० ११ ३९**

लगभग यह पूरा प्रसङ्ग गीतागत भगवान् कृष्ण एवं अर्जुन के संवाद से पूर्णतः प्रभावित है। अर्जुन भगवान् कृष्ण के विराट रूप का दर्शन कर उनसे निवेदन करते हैं कि हे विश्वमूर्त ! जिस प्रकार नदियों की जलराशि समुद्र की ही ओर दौड़ती है, वैसे ही वे शूरवीर मनुष्यों के समुदाय भी आपके प्रज्वलित हुए मुखों में प्रवेश करते हैं—

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः,<br>
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।<br>
तथा तवामी नरलोक वीर,<br>
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलंति ॥—(गीता ११।२८)

राम, हनुमान से सांख्ययोग का वर्णन करते हुए उनसे कहते हैं कि, हे हनुमत् ! अपुत्र, अशिष्य, अयोगी को यह ज्ञान नहीं देना चाहिये—

"नापुत्रशिष्ययोगिभ्यो दातव्य हनुमन्क्वचित्"

अध्यात्म रामायण में भी राम ने प्रारम्भ में ही हनुमान से उनको ज्ञानोपदेश देने के बाद कहा है, हे अनघ ! यह परम रहस्य मुझ आत्म-स्वरूप राम का हृदय है और साक्षात् मैंने ही तुम्हे सुनाया है। यदि तुम्हें इन्द्रलोक के राज्य से भी अधिक सम्पत्ति मिले तो भी तुम इसे मेरी भक्ति से हीन किसी दुष्ट पुरुष को न सुनाना—

इदं रहस्यं हृदयं ममात्मनो<br>
मयैव साक्षात्कथितं तवानघ।<br>
मद्भक्तिहीनाय शठाय न त्वया,<br>
दातव्यमैन्द्रादपि राज्यतोऽधिकम् ॥—(अध्यात्म० १।५१)

यह प्राचीन आर्ष परम्परा है जिनका अनुमोदन इन दोनों रामायणों से होता है अन्यथा इस प्रकार के कथन उपनिषदों, गीता, एवं पुराणों में यत्किञ्चित् पार्थक्य से बहुलता से मिल सकते हैं।

उपनिषद्-साहित्य, आध्यात्मिक ज्ञान का ऐसा सञ्चय है जिसे गुरु के समीप बैठकर ही उपलब्ध किया जा सकता है और स्वयं ईश्वर का सामीप्य दिलाता है। गीता मे उपनिषदो के माहात्म्य को स्वीकृति मिली है और औपनिषद् ज्ञान ही उसके माध्यम से सञ्चित समन्वित होकर सामने आया है। ऐसी परम्परा है कि स्वयं भगवान् कृष्ण ने ही सारे उपनिषदों का दोहन कर इसे प्रस्तुत किया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।<br>
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

गीता के अध्यायों के अन्त में भी 'श्रीमद्भागवद्गीता सूपनिषत्सु', का समापन सम्बन्धी वाक्य-खण्ड देखने को मिलता है ८ के का पाँचवाँ सर्ग

'रामगीता' है। इसमें भी अध्यात्म के तैत्तिरीय शाखा एवं वाजसनेय ........ रूप का उल्लेख मिलता है—

सा तैत्तरीयश्रुतिराह सादरम्,
न्यासं प्रशस्ताखिलकर्मणास्फुटम्।
एतावदित्याह च वाजिनां श्रुति,
ज्ञानं विमोक्षाय न कर्म साधनम्॥—(अ० रा०, उ० का०, ५।२१)

इस प्रकार अध्यात्म रामायण का यह रामगीता प्रसङ्ग गीता एवं उपनिषद् दर्शन से निश्चित रूप से प्रभावित है। अद्भुत रामायण के बारहवें सर्ग में प्रधान पुरुष काल के संयोग से जगत की उत्पत्ति का वर्णन हुआ है, पुनः पुरुष-प्रकृति के तादात्म्य के परिणाम स्वरूप अहंकार क्रम से २५ तत्वों की उत्पत्ति का उल्लेख है। काल का उपनिषदों की भाँति बड़ा ही विशद वर्णन है—

सर्वे कालस्य वशगा न कालः कस्यचिद्वशे।
सोऽन्तरा सर्वमेवेदं नियच्छति सनातनः॥—(वही, १२।१७)

कठोपनिषद् में काल-वर्णन की महिमा भी इसी प्रकार व्यापक ढङ्ग की दिखायी देती है। अध्यात्म की विशुद्ध अद्वैतपरक व्याख्या करते हुए स्वयं राम हनुमान से कहते हैं, संसार में मैं महेश्वर ही स्थित हूँ अन्यथा अन्य स्थावर-जङ्गम जगत् अनित्य है—

नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्थावरजंगमम्।
ऋते मामेकमव्यक्तं व्योमरूपं महेश्वरम्॥—(वही, १२।२२)

तेरहवें सर्ग में राम हनुमान से भक्ति योग का वर्णन करते हैं। गीता में कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्ति योग का अलग-अलग वर्णन मिलता है। अद्भुत रामायण के इस सर्ग में ध्यानयोग, कर्म-योग और भक्तियोग का उल्लेख करते हुए भक्तियोग को श्रेष्ठ बतलाया गया है। राम, हनुमान से कहते हैं कि मैं तप, दान, यज्ञ से नहीं जाना जा सकता, मुझे जानने के लिए भक्ति आवश्यक है। ऊपर इसी प्रकार के एक कथ्य की गीता से तुलना की जा चुकी है। गीता के ग्यारहवें अध्याय में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि मैं वेद, तप, दान यज्ञ से नहीं जाना जा सकता, अनन्य भक्ति ही उसके लिए आवश्यक है **'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन'**। गीता नवम अध्याय में भक्ति और भक्त का महत्व बतलाते हुए कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि हे अर्जुन स्त्री, वैश्य, शूद्रादि पापयोनि वाले भी मेरी भक्ति और शरणागति से परमगति को प्राप्त होते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम्।—(गीता ९।३२)

अद्भुत् रामायण में अन्य वर्णों के सहित विकर्म में स्थित शूद्रादि नीच जातियों को भी निर्वाण प्राप्ति, भक्ति द्वारा सुलभ बतायी गई है।

अन्येऽपि ये विकर्मस्थाः शूद्राद्यानीचजातयः।
भक्तिमन्तः प्रमुच्यन्ते कालेन मयि संगताः। (वही १३ ११)

गीता के इस साक्ष्य पर 'कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्त प्रणश्यति' भगवान का भक्त कभी नष्ट नही होता। अद्भुत्रामायण के इस सर्ग में राम हनुमान् से कहते है कि मेरे भक्त का विनाश नहीं होता—

**न मद्भक्ता विनश्यंते मद्भक्ता वीतकल्मषाः।**
**आदावेतत्प्रतिज्ञातं न मे भक्तः प्रणश्यति॥—(वही १३।१२)**

गीता में भगवान् के अर्चना की सामग्री का उल्लेख है जिसमें वे प्रसन्न हो सगुण रूप मे भक्त की दी हुई भेंट को ग्रहण करते हैं—

**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।**
**तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥—(गीता ९।२६)**

अद्भुतरामायण में राम, हनुमान् से भक्त-अभिलषित पूजन-सामग्री का उल्लेख करते हैं—

**पत्रं पुष्पं फलं तोयं मदाराधनकारणात्।**
**यो मे ददाति नियतः स मे भक्तः प्रियो मतः॥—(अद्भुत० १३।१४)**

इस प्रकार भक्तियोग का यह समस्त प्रकरण गीता की अनुकृति पर आयोजित लगता है। राम की **'विश्वोद्भवस्थितिर्लयादिषुहेतुमेकम्'** रूप में अवधारणा तथा सर्वेश्वरवादी दार्शनिक भूमिका को भी गीता के अनुवर्तन पर ही अद्भुत्रामायण मे अपनाया गया लगता है। गीता के नवे अध्याय में कृष्ण ने कहा है कि मैं ही संसार का भरण-पोषण करनेवाला पिता, धाता, और माता रहा हूँ। मैं ही सूर्य रूप में तपता हूँ, वर्षा का आकर्षण करता और पानी बरसाता हूँ तथा अमृत एव मृत्यु, सत् एव असत्, सब कुछ मैं ही हूँ। दसवें अध्याय में कृष्ण ने स्वयं को आदित्य, सूर्य चन्द्र, पवन, रुद्र, यक्ष, राक्षस, कुबेर, अग्नि, वसु, कार्तिकेय आदि में व्याप्त बतलाया है तथा ग्यारहवें अध्याय में हरि को ही वायु, यम, अग्नि, वरुण, शशाङ्क, प्रजापति ब्रह्मा तथा ब्रह्मा का भी पिता कहा है।

अब इस पृष्ठभूमि में अद्भुत रामायण के कुछ प्रसङ्ग द्रष्टव्य हैं। प्रथम सर्ग मे ही सीता हनुमान से कहती है कि मैं मूल प्रकृति हूँ, सर्ग-स्थिति-अन्त-कारिणी हूँ, तथा राम के सान्निध्य मात्र से जगत् की सर्जना करती हूँ (१।३४)। तेरहवें अध्याय में राम ने स्वयं को स्रष्टा, परिपालक और संहर्ता तथा अपनी माया-शक्ति को लोक-विमोहिनी बतलाया है (१३।१८)। चौदहवें अध्याय में राम ने स्वयं को लोक का निर्माता, रक्षक, संहारकर्ता तथा सर्वात्मा एवं सनातन कहा है। वे ही समष्टि में व्याप्त होकर अपनी क्रियाशक्ति द्वारा सारी सांसारिक चेतना को अनुप्रेरित करते हैं। उन्हीं के द्वारा क्षुब्ध किये जाने पर प्रधान और पुरुष के सान्निध्य से जगत् का निर्माण होता है, महदादि-क्रम से सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। उसी परमात्म-शक्ति से सञ्चालित हो वैश्वानर, वरुण, निरंजनदेव, चन्द्रमा, सूर्य, देवयज्ञ, वैवस्वत यमदेव, कुबेर, निऋति, ईशान, विनायक स्कन्द लक्ष्मी सरस्वती सावित्री शेष संवर्तक अग्नि आदित्य वसु रुद्र महत अश्विनी कुमार सर्वदेव गन्धर्व उरग यक्ष सिद्ध साध्य चारण भूत राक्षसादि ऋतु-वर्षादि भूत चर

ब्रह्माण्ड, मूम्यादि, मूतादि, प्रकृति एवं माया सभी अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार सारा जगत् ही उस परमात्म-शक्ति से सम्पन्न है।

गीता के अर्जुन का स्थान अद्भुत रामायण में हनुमान ने ले लिया है। गीता में अर्जुन पुराण-पुरुष कृष्ण का स्तवन करते हैं तो अध्यात्मरामायण में पुराण-प्राणेश्वर राम की स्तुति करते है—(सर्ग १५)। गीता में कृष्ण 'वेद्यं पवित्रमोंकारम्' हैं तो अध्यात्म रामायण में भी हनुमान गुहा-निहित (हृदय में निवास करने वाले) देव को देखकर 'ओंकार' का उच्चारण कर बैठे। उसमें कृष्ण की ही भाँति राम को भी परब्रह्मत्व प्रदान किया गया है।

इस प्रकार स्पष्टत: अद्भुत रामायण की दार्शनिक अवधारणा सामान्यतया गीता की दार्शनिक मूमिका का अनुवर्तन करती चलती है।

अद्भुत् रामायण में सोलहवें सर्ग से ले कर सत्ताइसवें सर्ग तक पुन: राम-कथा एक नवीन दृष्टिकोण से प्रस्तुत की गयी है। इसकी कुछ सामग्री अत्यन्त अद्भुत है और उससे 'अद्भुत रामायण' नामकरण की सार्थकता भी सिद्ध होती है। सोलहवें सर्ग में राम, रावण को मार कर राज्य प्राप्त करते हैं। इस सर्ग में एक नवीन प्रसङ्ग की उद्भावना हुई है—वह यह कि लक्ष्मण समुद्र में कूद कर अपने शारीरिक ताप से उसे सुखा देते हैं। राम प्रार्थना कर समुद्र को पूर्ववत् रूप प्रदान करतें हैं और उस पर सेतु-बन्धन करते हैं। सत्रहवें सर्ग की सामग्री अत्यन्त नवीनता लिये हुए है। ऋषियों के समक्ष सीता अपने पिता के यहाँ आये हुए ब्राह्मण आतिथेय द्वारा सुनी हुई कथा का आख्यान करती हैं जिसमें दो रावणों का उल्लेख है। एक रावण दशमुख वाला है जो लंका का अधिपति था और जिसका बध राम ने किया, किन्तु एक अपूर्व बलशाली रावण सहस्त्र मुखों वाला भी है, जो पुष्कर का अधिपति है और जिसके अमोघ बल की कोई सीमा नहीं है। ये दोनों रावण भाई-भाई हैं। अठाहरवें सर्ग में राम पुष्कर-निवासी रावण से संघर्ष के लिए प्रवृत्त होते हैं। रावण के प्रमुख राक्षसों एवं सेनाध्यक्षों की एक विस्तृत सूची यहाँ उपलब्ध होती है। उन्नीसवें सर्ग में रावण के पुत्रों का युद्ध के लिए प्रवृत्त होना वर्णित है। बीसवें सर्ग मे रावण के सङ्कुल युद्ध का वर्णन है। इक्कीसवें सर्ग में महापराक्रमी रावण राम की सेना को निक्षिप्त कर देता है और अपने अस्त्र से राम के सैनिकों को उनके देशों तक पहुँचा देता है। बाईसवें सर्ग में रावण के आघात से राम मूर्छित हो जाते हैं। तेईसवें सर्ग में देवी के रूप में जानकी, रावण का बध करती है। चौबीसवें सर्ग में देवता-गण देवी जानकी की अमोघ शक्ति का आश्वासन राम को देते है। पच्चीसवें सर्ग में राम सीता की सहस्त्र नाम से स्तुति करते हैं। छब्बीसवें सर्ग में राम की विजय का वर्णन है। वे देवी-स्वरूपा सीता से नाना प्रकार के वर प्राप्त करते हैं। सत्ताईसवें सर्ग मे पुष्पकारूढ़ राम सीता का आलिङ्गन किये हुए अयोध्या लौटते हैं। ग्रन्थ के उपसंहार में प्रतिपाद्य सामग्री का सन्दर्भ एवं ग्रन्थ-माहात्म्य वर्णित है।

अद्भुत रामायण के उत्तरार्द्ध की उपर्युक्त सामग्री कथा की दृष्टि से कई नवीन सन्दर्भों को उद्घाटित अवश्य करती है, किन्तु इसकी प्रमुख विशिष्टता है सीता की शक्ति रूप में कल्पना। यह जानकी-प्रकरण देवी-माहात्म्य से पूर्ण रूप से प्रभावित है। राम-सहस्त्रमुख रावण का बध नहीं कर पाते, वह देवी-रूपा जानकी द्वारा मारा जाता है। डॉ० फ़ादर कामिल बुल्के ने जैमिनी भारत के आश्रम पर्व मे (हस्तलिखित प्रति) सहस्त्रमुख रावण के चरित का उल्लेख

किया है की बङ्गाली रामायण के पुष्कर खण्ड मे भी उन्होंने इस सामग्री के पाये जाने का उल्लेख किया है इसी प्रकार दवी के रूप एव सहस्र नाम का प्रसङ्ग भी प्राचीन देवी माहात्म्य की परम्परा पर आयोजित किया गया है। तेईसवें सर्ग मे रावण से आहत राम को मूर्च्छित देख महाशब्द वाली देवी का मुण्डमाला और छुद्र घण्टिका भूषित विकराल रूप धारण कर रावण के संहार के लिए युद्ध-भूमि मे उतर पड़ने और मातृकाओं सहित भयङ्कर नर्तन करने का वर्णन, जिससे देवता-गण शोक-विह्वल हो जाते हैं, दुर्गा सप्तसती की स्तोत्र-शृङ्खला के आधार पर विरचित है।

चौबीसवें सर्ग में देवी-विषयक सैद्धान्तिक सामग्री का सन्चयन करते हुए 'पुराणतत्त्व-वादियों' (२४।१५) का भी सन्दर्भगत उल्लेख किया गया है। यहाँ देवी को माहेश्वरी शक्ति, वैष्णवी शक्ति, मायात्मिका शक्ति, सर्वकारा, सनातनी आदि परम्परागत संज्ञाएँ ही दी गयी हैं।

वास्तव में शक्ति के आदिकालीन स्वरूप-लक्षण यद्यपि वेदों में ही आविर्भूत हो चुके थे, तथापि उनकी उपबृंहित व्याख्या का श्रेय पुराणों को ही है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों मे **"वैदिक शक्ति-तत्व की यह परम्परा पुराणों में आयी है। यह पुराण-विद्या का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है। देवी भागवत के अनुसार 'शक्तिः करोति ब्रह्माण्डम्' (१।२।३७) अर्थात् शक्ति ब्रह्माण्ड को रचती है। वेदों में जिसे ब्रह्म कहा गया है, वही परमात्मिका शक्ति है।"**[६]

स्पष्टतः पुराणों में देवी की परमात्मिका शक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा होने लगी थी। मार्कण्डेय पुराण एवं उसी की पृष्ठभूमि में देवीभागवत पुराण में शक्ति के इस रूप का प्रस्फुटन हुआ था। परमेश्वर की शक्ति के रूप में देवी की कल्पना का कारण भी मार्कण्डेय पुराण के देवी-माहात्म्य प्रसङ्ग में प्रतिपादित है। लगता है, अद्भुत रामायण में इसी पौराणिक देवी-स्वरूप के सन्दर्भ मे शक्ति विषयक समस्त सामग्री आयोजित की गयी है। इस सर्ग में देवता-गण राम को आश्वासन प्रदान करते हुए पुष्ट रीति से इस अभिमत की पुष्टि करते हैं कि हे राम! आप जानकी (शक्ति) के बिना कुछ भी नहीं कर सकते—

**"नानया रहितो राम किंचित्कर्तुमपिक्षमः"—(अद्भुत० २४।४२)**

शक्ति-स्वरूपा जानकी के इस महत्वाख्यान को मान्यता प्रदान करने के लिए ही अद्भुत रामायण के पचीसवें सर्ग में राम, जानकी की सहस्रनाम से स्तुति करते हैं। यहाँ दुर्गासप्तशती के दुर्गाष्टोत्तर शतनाम (१०८) को नाना विशेषणों से उपबृंहित कर १००८ नामों से राम द्वारा सीता (शक्ति) की स्तुति करायी गयी है, जो निश्चित रूप से शाक्तमत के प्रभाव का द्योतन करती है। यहाँ जानकी अपने को महेश्वर के आश्रित परम शक्ति बतलाती हैं और राम को अपने ईश्वर स्वरूप दर्शन के लिए दिव्यचक्षु प्रदान करती हैं और राम उनके दिव्य माहेश्वरी पद को विस्मय से देख और हृत्मानस हो कर देवी के १००८ नामों से स्तुति करना प्रारम्भ कर देते हैं। निश्चित रूप से राम की यह साम्प्रदायिक गति शाक्त प्रभाव के कारण बहुत बाद की प्रतीत होती है। छब्बीसवें सर्ग में इस साम्प्रदायिक आग्रह को और उत्कट रूप से चित्रित किया गया है। राम भयभीत हो- परमेश्वरी से आग्रह करते हैं कि आप अपना शान्त-सौम्य रूप दिखलाओ! सौम्य रूप का दर्शन करके अपने जन्म और तप को सफल मानते हैं तथा यह कहते हुए जानकी मे विराटत्व

का व्यापक अभ्यास करते हैं कि तुम देवताओं में इन्द्र, ब्रह्मज्ञानियों में ब्रह्म, सांख्यों में कपिलदेव, रुद्रों में शंकर, आदित्यों में उपेन्द्र, वसुओं में पावक, वेदों में सामवेद, छन्दों में गायत्री, विद्या मे अध्यात्म, गतियों में परमगति, शक्तियों में माया, कलित करने वालों में काल, गुह्यों में ॐकार, वर्णों में ब्राह्मण, आश्रमों में गृहस्थ, ईश्वरों में महेश्वर एवं उपनिषदों में गुप्त उपनिषद् इत्यादि हो, तो लगता है जैसे गीता के दसवें अध्याय में कृष्ण द्वारा अर्जुन के प्रति कहे गये अपने दिव्य विभूतियों की व्यापकता जानकी (शक्ति) के प्रसङ्ग में आरोपण कर दिया गया हो। फिर जगत्पति राम के वचन सुन कर हँसती हुई सीता स्वामी राम से कहती हैं कि रावण-वध वाले लोकोत्तर रूप से मैं मानस के उत्तर में निवास करती हूँ—प्रकृति से नील रूप एवं रावणादित लोहित रूप के कारण नील मोहित रूप से तुम्हारे साथ निवास करती हूँ। इसके उपरान्त जानकी राम को वर माँगने का आदेश देती हैं और बेचारे राम अंश भाग द्वारा परमेश्वरी से उनके ईश्वरीय रूप का हृदय से कभी न टलने का वरदान माँगते हैं एवं वानरादि तथा विभीषणादि के जीवन-दान व रूप व उनका साहचर्य याचित करते हैं। तात्पर्य यह कि ये समस्त प्रकरण शाक्त-सम्प्रदाय के अतिरञ्जित रूप को—सशक्त ढङ्ग से प्रस्तुत करने के लिये आयोजित करते हैं।

इस अद्भुत रामायण का लेखक निश्चित रूप से कोई ब्राह्मण है, क्योंकि ग्रन्थ में ही ब्राह्मणों का विशेष अधिकार सुरक्षित है। वह शक्ति का उपासक है और वैष्णव-परम्परा मे शक्ति-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा चाहता है, जिसके लिए उसने बड़ी तन्मयता से गीता, लोक-कथा एव देवी-माहात्म्य का दोहन किया है। वैष्णव धर्म के अनुरूप रामावत-सम्प्रदाय मे नारायणत्व का निरूपण कर वह शक्ति के व्यापक स्वरूप का सन्निवेश भी राम-प्रसङ्ग में करना चाहता है। डॉ० ग्रियर्सन का यह अभिमत है कि **"अद्भुत रामायण निश्चित रूप से एक आधुनिक रचना है। यह शाक्तमतवाद का ग्रन्थ है जिसमें सीता को राम से ऊपर निरूपित किया गया है। यह निश्चित रूप से वैष्णव धर्म के समानान्तर विकृत शैव शक्तिवाद को प्रस्तुत करने वाला भी एक प्रयोग है।"** इस प्रकार इस ग्रन्थ के आधुनिक होने में कोई आशङ्का नहीं रह जाती। ऊपर डा० प्रबोध चन्द्र बागची द्वारा अध्यात्म रामायण से पूर्व इसके प्रस्तुत होने की बात भी यहाँ उपर्युक्त अर्वाचीन सामग्री के आधार पर सिद्ध नहीं हो पाती है। इसकी सामग्री कई स्थलों पर अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में मात्र सूक्ष्म ढङ्ग से अध्यात्म रामायण से सामीप्य स्थापित करती है। अतः इससे अध्यात्म रामायण का प्रभावित होना असिद्ध-सा ही है, अपितु प्रतीत होता है कि जिस प्रकार अध्यात्म रामायण ने भागवत से प्रेरणा ले कर कृष्ण के समतुल्य राम का वैष्णवपरक रूप खड़ा किया, ठीक उसी प्रकार इसके रचयिता ने एक ओर गीता का दोहन कर राम का वैष्णव-रूप और देवी माहात्म्य से प्रभावित हो राम सीता का शक्तिपरक रूप निरूपित करना चाहा है, जिससे उसके साम्प्रदायिक उद्देश्य की सिद्धि में लाभ हो। अद्भुत रामायण के कतिपय प्रसङ्ग तुलसी की अभिव्यक्ति के सन्निकट से हैं, जिनमें कुछ की तो लम्बी आर्ष परम्परा भी है। निष्कर्षत डॉ० राघवन, डॉ० ग्रियर्सन, एवं डॉ० क़ादर कामिल बुल्के की इस निष्पत्ति में कोई अतिरञ्जना नहीं प्रतीत होती कि यह कृति अध्यात्म रामायणकार एवं तुलसी की समकालीन कृति है। डॉ० बुल्के ने इसे १५०० ई० के आसपास की रचना कहा है जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है। डा० प्रबोध चन्द्र बागची ने फर्क्युहर के प्रारम्भिक उल्लख पर ही इसे के पूर्व कल्पित

कर लिया, क्योंकि अध्ययन के व्यापक परिवेश मे अध्यात्म रामायण को प्रभावित करने वाली कोई ठोस सामग्री अद्‌भुत रामायण में परिलक्षित होती ही नहीं। एक ही समकालीन वातावरण अनुगूंज से हो कर भी इन दोनों का आधार ग्रन्थ विलग-विलग-सा रहा है। अध्यात्म रामायण भागवत एवं भागवत धर्म से प्रभावित पौराणिक सन्दर्भ का ग्रन्थ है। अद्‌भुत रामायण के प्रारम्भिक स्थलों में गीता के दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रभाव है, किन्तु उसका लक्ष्य तो सीता-प्राधान्य से शाक्त परम्परा का वैष्णव अनुमोदित रूप खड़ा करना है जो सिद्धान्तत. भी प्राचीन नहीं लगता।

## सन्दर्भ-सङ्केत

१. डॉ० बागची : अध्यात्म रामायण (भूमिका भाग, कलकत्ता संस्करण)।

२. डॉ० राघवन् : म्यूजिक इन अद्‌भुत रामायण, जनरल म्यूजिक एकेडेमी, भाग १६, पृ० ६५–७१।

३. डॉ० ग्रियर्सन : आन दी अद्‌भुत रामायण, बुलेटिन स्कूल ओरियण्टल स्टडीज, भाग ४, पृ० ११।

४. डॉ० कामिल बुल्के : रामकथा, प्रथम संस्करण, पृ० १६५

५. कोलब्रुक : इण्डिआ अफिस लायब्रेरी, कैटलाग संस्कृत पाण्डुलिपियाँ, भाग ६, पृ० ११८३, लंदन।

६. 'मार्कण्डेय पुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन', पृ० १७१।

# कबीर-काव्य में रस-परिकल्पना

प्रेमस्वरूप गुप्त

यों तो कबीर ने 'रस' शब्द का प्रयोग अपनी वाणियों में भौतिक सुख, माया-जन्य आकर्षण, रसनेन्द्रिय के आस्वाद्य मधुरादि से ले कर हरि, हरि-नाम, प्रेम-तत्व, अद्वैत आनन्द तथा हठयोगी साधन-मार्ग से उपलब्ध आनन्द आदि विविध अर्थों में किया है, फिर भी उनका प्राप्तव्य रस-तत्व आत्मानुभूतिमय आनन्द ही है जिसका उल्लेख प्रायः तीन नामों से हुआ है—रस, रसाइण और महारस। कबीर का यह रस-तत्व मुख्य रूप से निम्न चार रूपों में निरूपित हुआ है—

(१) **अद्वैत आत्म-तत्व**—यह 'रस' आनन्द-स्वरूप, गुणातीत, अकल एवं निरञ्जन है। यह ज्ञानयोग की चरम उपलब्धि है।

(२) **हठयोगी साधनमार्ग से उपलब्ध 'रस'**—इसकी चर्चा दो रूपों में है—(क) ब्रह्म-रन्ध्र से बूँद-बूँद झरने वाले द्रव के रूप में, तथा (ख) हठयोग से उपलब्ध आनन्द की अनुभूति के रूप में।

(३) **हरि या राम**—वैष्णव भक्तों के अनुरूप कबीर ने राम-तत्व को रस-रूप में स्वीकार किया है। यह प्रेमयोग की उपलब्धि है।

(४) **प्रेम-तत्व**—भक्तों की भावना में प्रेम-तत्व स्वयं 'रस' है। वह परम तत्व की उपलब्धि का साधन होते हुए भी अपनी चरम सरसता के कारण अपने में 'साध्य' समझा जाता है।

इस प्रकार कबीर की रस-दृष्टि ज्ञान-मार्ग, साधना-मार्ग और भक्ति-मार्ग की त्रिमुखी चेतनाओं से आकलित है। इन त्रिमुखी चेतनाओं का केन्द्र-विन्दु एक है—आत्मा के निष्कल एवं परिपूर्ण स्वरूप की स्वानुभूति। हठयोगी साधना के प्रक्रिया-योग से उपलब्ध आनन्द-तत्व तथा ज्ञानयोग से उपलब्ध आनन्द-तत्व तो एक है ही, भावयोग से उपलब्ध आनन्दमय परम तत्व भी स्वरूपतः निर्गुण, निराकार एवं अद्वैत ही है। केन्द्र-विन्दु की इस एकता के कारण कबीर की रस-चेतना बिखर नहीं उठी।

किसी काव्य में रस-परिकल्पना का विवेचन अनुभूति, अभिव्यञ्जना और प्रेषणीयता. इन तीन बातों पर ध्यान देते हुए किया जा सकता है कवि की अनुभूति कैसी है, उसकी अभि

व्यक्ति का स्वरूप क्या है, तथा एक सहृदय के मन पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है--- सामान्यतः ये तीन बातें किसी काव्य की रस-परिकल्पना निर्धारित करा सकती हैं।

## अनुभूति एवं अभिव्यञ्जना

कबीर के काव्य में उनकी अनुभूति की दो दिशाएँ निर्धारित की जा सकती है--- एक तथ्यानुभूति की, दूसरी भावानुभूति की। तथ्यानुभूति में, उन्होंने आत्मा के अद्वैतत्व आर ब्रह्मत्व का साक्षात्कार किया है, ऐसा उनका दावा है और उनकी वाणी पाठक के मन पर जो विश्वसनीय प्रभाव छोड़ती है, उसे देखते हुए उनके दावे को झुठलाने का हमारे पास कोई आधार भी नहीं है। भावानुभूति में एक ओर तो गुणातीत राम-तत्व के प्रति गहरी प्रेमानुभूति आती है, दूसरी ओर लोक के प्रति। लोक-प्रेम की अनुभूति दो रूपों में सामने आयी है---कहीं सीधे-सीधे जीव-दया, करुणा आदि के रूप मे, कहीं लोकमङ्गल-विघातक तत्वों के प्रति रोष और आक्रोश के रूप में। इस प्रकार उनकी अनुभूति को मोटे तौर पर निम्न रूप में रखा जा सकता है---

(१) **तथ्यानुभूति**---(क) आत्मा के अद्वैतत्व और जगत् के मिथ्यात्व की अनुभूति (ख) प्रक्रियायोग द्वारा उपलब्ध सत्य की अनुभूति।

(२) **भावानुभूति** (क) निर्गुण परमतत्व के प्रति प्रेमानुभूति (ख) लोक के प्रति प्रेमानुभूति---

(अ) लोकपरक शुभ भावों के रूप में। (आ) लोकमङ्गल-विघातक तत्वों के प्रति रोष-आक्रोश के रूप में।

तथ्यानुभूति में आत्मा के अद्वैतत्व और जगत् के मिथ्यात्व की अनुभूतियाँ ज्ञानयोगमूलक हैं। इनमें जगन्मिथ्यात्वपरक वाणियों पर 'निर्वेद' के अन्तर्गत आगे विचार करेंगे। आत्माद्वैत-परक ज्ञानमूलक और साधनमार्गी प्रक्रियायोगमूलक दोनों प्रकार की अनुभूतियों का अलग-अलग रूप कबीर में स्पष्ट है, जिनका अन्तर उनके उदाहरणों पर दृष्टि डालते ही सामने आ जाता है---

**क--** **पाणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।**
**जो कछु था सोई भया, अब कछु कह्या न जाइ॥१॥**
**जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहरि भीतर पानी।**
**फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यहु तथ कथौ गियानी॥२॥**

**ख--** **अगनि जु लागी नीर में कंदू जलिया झारि।**
**उत्तर दखिन के पण्डिता रहे विचारि विचारि॥३॥**
**गगन गरजि अमृत चुवै, कदली कँवल प्रकास।**
**तहाँ कबीरा बन्दिगी, कैं कोई निज दास॥४॥**

पहिले प्रकार की वाणियाँ ज्ञान-मूलक हैं, इसकी ओर सङ्केत "यहु तथ कथौ गियानी" कह कर स्वयं कबीर ने भी किया है। इस कोटि की वाणियाँ प्रायः सीधी सरल और [illegible] हैं उनके प्रती[illegible] [illegible] हैं दूसरे प्रकार की वाणियाँ हठयोग द्वारा [illegible] सत्यो के

अनुभव प्रस्तुत करती हैं। इस कोटि की वाणियाँ प्रायः दुरूह, टेढ़ी और अपरिचित प्रतीकों वाली है। उनमें कवित्व दब गया है।

तथ्यानुभूतिपरक इस उभय-विध काव्य को रस-व्यञ्जक नहीं, वस्तु-व्यञ्जक ही समझना चाहिये। यह वस्तु-व्यञ्जना एक में तो प्रायः अभिधा के द्वारा काव्योपयोगी प्रतीकों के माध्यम से हुई है, दूसरे में उनके युग में प्रचलित, लक्षणा के अतिभार से दबे, उलटबासियों के कतिपय प्रतीक-रूपकों के माध्यम से।

उलटबासियों के प्रकार की उक्तियाँ कबीर-जैसे लोगों के लिए उस युग का एक प्रचलित माध्यम थीं। हो सकता है, रहस्यात्मक सत्यों की अनुभूतियाँ अभिव्यक्त होते-होते कुछ बङ्किम हो उठें, किन्तु इनमें तो सप्रयास और सोद्देश्य टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता अपनाया जाता था। कहने वाला, सुनने वाले के मन में आश्चर्य और चमत्कार उत्पन्न कराते हुए अपनी बात उतारना चाहता था। कहना चाहिये, अद्‌भुत रस की सृष्टि द्वारा वस्तु-व्यञ्जना करना चाहता था। तब यह स्वाभाविक ही है कि ऐसी उक्तियों में रस-व्यञ्जना वस्तु-व्यञ्जना के प्रति गौण हो और वह भी उस वस्तु-व्यञ्जना के प्रति जो स्वयं दुरूह लक्षणाओं के टेढ़े-बकुचे मार्ग पर आ रही है। यही कारण है कि इस काव्य-रूप की अभिव्यञ्जना जटिल है। ऐसे स्थलों पर कवि तो रस-व्यञ्जना और वस्तु-व्यञ्जना दोनों देना चाहता है, किन्तु उसकी प्रेषणीयता मन-चाहे रूप में नहीं होती। वस्तु-व्यञ्जना के प्रति इस गौण रस-व्यञ्जना का प्रभाव भी शैली की दुरूहता में खो जाता है। सिद्धान्ततः भी शैली का अतिभार रस-सृष्टि में बाधक माना गया है। अतः उलटबासियों में कबीर की रस-कल्पना का स्वरूप उत्कृष्ट नहीं है, केवल लड़खड़ाती हुई वस्तु-व्यञ्जनाएँ हैं।

कबीर के काव्य में सच्ची रस-कल्पना के दर्शन उनके तथ्यानुभूतिपरक काव्य में नहीं, भावानुभूतिपरक काव्य में होते हैं। यह भावानुभूति मुख्यतः दो रूपों में है—१—निर्गुण परम सत्ता के प्रति। २—लोक के प्रति। इन दोनों में रस-कोटि तक पहुँचने वाला प्रेम प्रथम प्रकार की उक्तियों में प्रदर्शित हुआ है।

## परमतत्त्व के प्रति प्रेमाभिव्यक्ति

परमतत्व के प्रति प्रेमानुभूति के क्षेत्र में कबीर का वह प्रेमी रूप सामने आता है, जहाँ उनका अद्वैतवाद शिथिल पड़ जाता है। अद्वैत की अनुभूति बुद्धि-मार्ग की चरम उपलब्धि है, जिसे हृदय का विषय बनाते-बनाते कुछ न कुछ द्वैत-छाया आ ही जाती है, साथ ही कुछ रहस्य की झलक का आना भी स्वाभाविक है।

कबीर ने अपने प्रिय को रामादि वैष्णव नामों से स्मरण किया है, यद्यपि उसे पौराणिक चेतना का जामा नहीं पहिनने दिया। उसे द्वैत की भूमिका में ला कर उसके प्रति मधुर कान्ताभाव की अनुभूति उन्होंने की है, जो भारतीय चेतना के अनुरूप होते हुए सूफियों से भी बहुत-कुछ मेल खाती है।

माधुर्यमूलक कान्तारति की आश्रय कबीर की प्रेमिका आत्मा स्वकीया, एकब्रह्मा और पतिव्रता है। दूसरी ओर उसका आलम्बन प्रियतम स्थूलता से परे है। फल यह हुआ है कि कबीर के       में लोक पर किसी प्रकार के अशुभ प्रभाव पड़ने की       नहीं है, जैसी

कि कतिपय मधुरमार्गी वैष्णव-सम्प्रदायों के कान्ताभाव की व्यञ्जना में रहती है। कबीर की एकाङ्गी, पातिव्रत में डूबी प्रेयसी की भावानुभूतियाँ लोकानुभूति पर गहरा शुभ प्रभाव छोड़ती हैं।

कबीर के कान्ताभाव की अभिव्यञ्जना संयोग तथा वियोग दोनों रूपों में हुई है। यों तो संयोग के चित्र भी कम रसान्वयी नहीं हैं, किन्तु वियोग में तो उनकी आत्मा के नानामुखी भाव-चित्र सामने आते हैं।

## संयोग-भावना

कबीर की संयोग-भावना की दो विशेषताएँ हैं—स्थूल दैहिकता का अभाव और यदा-कदा ज्ञान-योग और प्रक्रिया-योग की बातों के उभार। उदाहरण के लिए उनका यह पद लिया जा सकता है—

> **मन के मोहन बीठुला, उहु मन लागौ तोहि रे।**
> **चरन कँवल मन मानियाँ, और न भावै मोहि रे॥**
> **षटदल कँवल निवासिया, चहुँ कौं फेरि मिलाहि रे।**
> **दहुँ के बीच समाधियाँ, तहाँ काल न पासै आइ रे॥१॥**

इस पद में पहिले भाव-स्तर पर प्रिय के प्रति अनुभूति है, फिर शेष पद में प्रक्रिया-योग की बातें उभर आयी हैं। इन उभारों का कारण है कि कबीर आत्म-दर्शन के आनन्द की अभिव्यञ्जना तीन प्रकार से करते है—कभी शुद्ध ज्ञान के सहारे, कभी प्रक्रिया योग के सहारे, कभी शुद्ध प्रेम के सहारे। इन तीनों का अवलम्ब लेने के कारण कभी-कभी एक प्रकार से बात कहते-कहते दूसरे के उभार भी आ जाते हैं, जो उनके लिए अस्वाभाविक नहीं हैं। पर प्रेषणीयता की दृष्टि से उनका मुख रस-व्यञ्जना से वस्तु-व्यञ्जना की ओर हो जाता है।

कबीर के कतिपय संयोग-रूपकों में संयोग-भावना, अभिव्यञ्जना के स्तर पर ही रह जाती है। उदाहरण के लिए यह प्रसिद्ध पद लिया जा सकता है—

> **दुलहिनि गावहु मंगलचार।**
> **हम घरि आये हो राजा राम भरतार॥**
> **तन रत करि हौं मन रति करि हौं पञ्च तत्व बराती।**
> **रामदेव मोरे पाहुनैं आये मैं जोबन मदमाती॥**
> **सरीर सरोवर बेदी करिहूँ ब्रह्मा वेद उचार।**
> **रामदेव संग भाँवरि लैहूँ धनि धनि भाग हमार॥२॥**

इस पद में आत्मा और परमात्मा के बीच मिलन की बात एक विवाह के रूपक द्वारा कही गयी है रूपक सयोगपरक है पर उसका स्थान [illegible] के भीतर है आ मा और [illegible] के मिलन की बात एक वस्तु [illegible] के रूप में प्रस्तुत की गयी है फिर भी,

औत्सुक्य, हर्ष आदि सञ्चारियों के माध्यम से पर्यवसित भाव-चित्र संयोगपरक माधुर्यभाव का ही बनता है।

जिन पदों में प्रक्रियायोगादि की बातें उभर कर नहीं आयीं, उन संयोगपरक चित्रों में बड़ी प्राञ्जलता और मधुरता कबीर ने भरी है---

**बहुत दिनन में प्रीतम पाये।**
**भाग बड़े घर बैठें आये॥**

अथवा

**अब तोहि जान न देहूँ रांक पियारे।**
**ज्यूं भावै त्यूं होहु हमारे।**

ऐसे मधुर पद उत्कृष्ट रस-व्यञ्जक हैं। पर ऐसे पदों की संख्या कम ही है। सामान्यतः कबीर में संयोग के चित्र-ही अधिक नहीं है।

कबीर की विरहिणी आत्मा के भाव-सञ्चार बड़े ही मार्मिक हैं, जिनमें हठयोगी प्रक्रिया के उभार सामान्यतः दिखायी नहीं पड़ते। फल यह हुआ है कि उनकी वियोगमूलक रस-कल्पना शुद्ध भावात्मक रही है। उसमें वेदना की गहरी विवृति पायी जाती है। विरहिणी प्रिय की प्रतीक्षा में पथ पर खड़ी है। आने वाले पथिकों से दौड़-दौड़ कर पूछती है, उसके प्रिय कब आयेंगे। उसने बड़ी लम्बी प्रतीक्षा की है, प्रिय-मिलन के लिए उसका जी तरस उठा है। कभी निराशा में भर जाती है, मरने-पीछे प्रिय आये तो क्या ? पाहन ही न रहेगा तब क्या होगा पारस का ? प्रिय का नाम रटते-रटते उसकी जीभ में छाले पड़ गये हैं, आँखें झीमी हो उठी हैं। वस्तुतः कबीर ने वियोग-पक्ष में कान्तारति की बड़ी ही वेदनापूर्ण अनुभूतियाँ अभिव्यञ्जित की हैं, जिनमें सामान्यतः ऊहाओं का अभाव है। कहीं ऊहाएँ हैं भी तो उनके मूल में भाव की तीव्रता निहित है और वह ऊहा प्रायः संवेदनात्मक है---

**यह तन जालौं मसि करौं, ज्यूं धूंआ जाइ सरग्गि।**
**मति वै राम दया करैं, बरसि बुझावैं अग्गि॥२॥**

कबीर ने विरह को सैद्धान्तिक रूप से महत्वपूर्ण स्वीकार किया है---

**बिरहा बुरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलितान।**
**जिस घट विरह न सञ्चरै, सो घट सदा मसान॥३॥**

## भगवत्प्रेम के अन्य रूप

कान्ताभाव के अतिरिक्त कबीर ने भगवान् के प्रति दो अन्य भावों को अपनाया है---दास्यभाव एवं बालभाव। तीनों में मधुरता की दृष्टि से कान्तारति का स्थान सर्वश्रेष्ठ है, किन्तु अन्य दोनों भावों की अनुभूति और अभिव्यञ्जना भी निर्बल नहीं है, मात्रा में अवश्य कम है।

दास्याभाव में अन्य जगहों के अक्खड़ कबीर अपने प्रभु के प्रति कितने सरल और विनम्र हैं यह देखने की बात है वे अपने को राम के कुत्ते के रूप मे प्रस्तुत करते हैं

**कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाव।**
**गले राम की जेवड़ी जित खैंचैं तित जाँव।।४।।**

कहीं-कहीं कबीर की प्रेम-भावना बाल्य रूप में अभिव्यक्त हुई है। निम्न साखियों मे इसकी बड़ी ही मधुर व्यञ्जना है—

**पूत पियारौ पिता कौं गौहनि लागा धाइ।**
**लोभ मिठाई हाथ दे आपण गया भुलाइ।।**
**डारी खाँड़ पटकि करि अन्तर रोस उपाइ।**
**रोवत-रोवत मिलि गया पिता पियारे आइ।।५।।**

दास्य और बाल्य दोनों प्रकार की अनुभूतियों में राम के महत्व और आत्म-लघुत्व की स्वीकृति है। दोनों में प्रेम का बड़ा ही सरल, स्वाभाविक एवं लोकानुभूत रूप अङ्कित हुआ है। इस कोटि की उक्तियाँ मात्रा में कम ही हैं, पर इनकी भाव-व्यञ्जना बड़ी प्रकृत है।

### निर्वेद

निर्वेद के आधार पर कबीर की दो प्रकार की रस-कल्पना हमारे सामने आती है—एक स्वतन्त्र निर्वेद की, जिसमें जगत् की अनित्यता, निस्सारता एवं अतात्विकता का बड़े ही शक्ति-शाली ढङ्ग में निरूपण हुआ है; दूसरी जगत् के प्रति अनास्था उत्पन्न करते हुए रामरति की ओर उन्मुख करने वाली। पहिली को काव्यशास्त्र की भाषा में शान्तरस के अन्तर्गत रखना होगा, दूसरी को रामरति के सञ्चारी के रूप में। दोनों के अन्तर को इस प्रकार देखा जा सकता है—

१—शान्तरस के स्थायी स्वतन्त्र निर्वेद की व्यञ्जना—

**कबीर नौबति आपनी दिन दस लेहु बजाइ।**
**ए पुर पाटन ए गली बहुरि न देखौ आइ।।**

२—रामरति के अङ्गभूत सञ्चारी निर्वेद के रूप में—

**जिनकै नौबति बाजती मैंगल बंधते बारि।।**
**एकै हरि के नाँव बिन गए जनम सब हारि।।**

दूसरे प्रकार के निर्वेद को 'भक्तिरस' के भीतर समझना चाहिये।

### लोक के प्रति प्रेमाभिव्यक्ति

कबीर-काव्य का एक बड़ा अंश लोकप्रेम की अनुभूति से भींगा है। कबीर के सम्बन्ध में यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि वे सीमा पर पहुँचे अद्वैतवादी होते हुये भी बड़े भारी लोकप्रेमी थे। अद्वैतवाद सामान्यतः जगत् के प्रति मिथ्यात्व की चेतना देता है, अतः ज्ञानी में लोक के प्रति उपेक्षा जागती है। यही कारण है कि शङ्कर की परम्परा में बड़े-बड़े ज्ञानी हुए किन्तु समाज की समस्याओं ने उनमे से कम को ही सताया है पर कबीर एक ज्ञानी ही नहीं एक भावक भक्त भी थे उनका विशाल हृदय लोक-प्रम से परिसिञ्चित था

अपने निजी सुख-दुःख की परिधि से बाहर आकर दूसरे के सुख-दुःख में निःस्वार्थ भाग लेना और इस प्रकार स्वार्थ और परार्थ को एकाकार कर लेना लोक-परायणता की एक उत्कृष्ट कसौटी है। ऐसे लोक-हृदय व्यक्तियों की लोक के प्रति प्रेमानुभूति प्रायः दो रूपों में सामने आया करती है। कभी तो वे प्रेम, दया, करुणा आदि भावों से भरे दिखायी पड़ते हैं, कभी लोक-मङ्गल के विघातक तत्वों के प्रति रोष-आक्रोश से भरे हुए। इस दूसरी स्थिति में उनमें पीड़ित के प्रति करुणा और वेदना होती है, पीड़क के प्रति क्षोभ और रोष। इस सभी प्रकार की भावाभिव्यक्तियों का बीज-भाव या मूलभाव लोक-प्रेम ही होता है, अतः ऐसी काव्याभिव्यक्तियों में 'लोक-रस' का परिपाक होता है, जिसका स्थायीभाव 'लोकरति' को समझना चाहिये। कबीर के काव्य में इस लोकरस के विविध चित्र हैं, जिनकी अभिव्यक्ति बड़ी समर्थ है और प्रेषणीयता बड़ी सफल।

कबीर की लोकरति के भी दो रूप हैं—एक तो आर्त एवं शोषित लोक के प्रति प्रेम, सहानुभूति, करुणा का, दूसरा शोषक एवं पीडक के प्रति रोष-आक्रोश का। पहिले में लोक-मङ्गल से सम्बद्ध शुभ भाव और रूढ़ि-मजहब-समाज के शिकार दुःखी प्राणियों के प्रति व्यथा और करुणा के दर्शन होते हैं, दूसरे में उन तत्वों के प्रति क्षुब्ध प्रतिक्रिया के जिन्हें वे लोक-मङ्गल के विपरीत समझते है।

हम अपने प्रिय वस्तु की किसी प्रकार की भी क्षति से दुःखी होते हैं और उस क्षति के कारणों के प्रति क्षुब्ध। ये दोनों ही बातें स्वाभाविक हैं और दोनो ही का मूल कारण है उस वस्तु के प्रति प्रेम। अतः लोक-रति की अनुभूति से ही कबीर ने लोक-विरोधी तत्वों के प्रति गहरी क्षोभ-प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की हैं। रीति-रिवाज, जाति-पाँति, छुआ-छूत, भेद-भाव सब के प्रति गहरा आक्रोश सँजो कर उन्होंने मुल्ला और पाण्डे दोनों को फटकारा है। वेद-कतेब, माला-तसबीह, नमाज-रोजा, छापा-तिलक और मूर्ति-पूजा जैसे बाह्य आचारों के ऊपर उन्होंने एकबारगी कठोर चोट की है। जीवहिंसा उन्हें भारी व्यथा देती है और हिंसक के प्रति वे बड़े ही कठोर हैं। ये सब अभिव्यक्तियाँ उनकी लोकरति की अनुभूति के विविध उच्छलन हैं।

मात्रा की दृष्टि से लोकरति की सीधी अभिव्यक्तियों की अपेक्षा लोकविरोधी तत्वों के प्रति रोष-आक्रोश वाली अभिव्यक्तियाँ अधिक हैं। कबीर की इन चोट भरी व्यंग्यपूर्ण उक्तियों में अपनी मिठास है। इनमें प्रायः 'रसव्यञ्जना' न हो कर 'भावव्यञ्जना' ही हुई है। किन्तु इस भाव-व्यञ्जना में एक विशेष बात यह है कि यह कवि की निजी अनुभूति की प्रसूति है। भट्टनायक ने कहा है कि स्वयं बिना डूबे कोई कवि रस या भाव की सृष्टि कर ही नहीं सकता। अतः भावाभिव्यञ्जना से पूर्व कवि में भावावेश अपेक्षित है। यह भावावेश दो प्रकार का हो सकता है—एक कृत्रिम कल्पना के बल पर लाया हुआ जिसे हम कृतक कह सकते हैं, दूसरा निजी अनुभूति के आधार पर होने वाला जिसे अभिनव गुप्त ने 'अकृतक' नाम दिया है। दोनों ही प्रकार के भावावेशों से उच्च प्रकार के काव्य की सृष्टि हुई है, होती है, तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अकृतक भावावेश से उत्पन्न काव्य में जो स्थायी प्रभवनशीलता होती है, वह भावावेश में नहीं हो पाती [illegible] के अनेक भावुक भक्तों की समय [illegible] का यही रहस्य है कि

उनके मूल में निहित भावावेश अकृतक था। कबीर की लोकरति मूलक भावाभिव्यक्तियों की प्रभवनशीलता का भी यही रहस्य है कि उनके मूल में भावावेश अकृतक है।

कबीर की इस कोटि की भाव-व्यञ्जना केवल काव्य-सर्जना के लिए नहीं, सोद्देश्य है। वे अपनी समर्थ वाणी के निर्मम आघात से सामाजिक अमङ्गल के अस्थि-पञ्जरों को एकबारगी चूर कर देना चाहते हैं। उनकी ये अभिव्यक्तियाँ लोकरति से प्रेरित होने के कारण व्यक्तिगत न रह कर लोकसामान्य के हृदय को संस्पर्श करती हैं और पाठक की लोक-विरोधी तत्वों के प्रति विक्षुब्ध चेतना इनके माध्यम से परितुष्ट होती है।

इस प्रकार कबीर की रस-परिकल्पना को अभिव्यञ्जना की दृष्टि से निम्न रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है—

**१. तथ्यानुभूतिमूलक अभिव्यक्तियाँ** (क) अद्वैत-तत्व के साक्षात्कार से सम्बन्धित वस्तु-व्यञ्जनाएँ। (ख) जगत् के मिथ्यात्व की निर्वेदपरक वस्तु-व्यञ्जनाएँ और शान्तरस की व्यञ्जनाएँ। (ग) प्रक्रियायोग पर आधारित वस्तु-व्यञ्जनाएँ।

**२. प्रेमानुभूतिमूलक अभिव्यक्तियाँ** (क) परमात्मप्रेममूलक—

१—निर्वेद-परिपुष्ट भगवद्रति की व्यञ्जनाएँ। २—आत्मलघुतापरक दास्यरति की व्यञ्जनाएँ। ३—सरलता-लघुतापरक बालरति की व्यञ्जनाएँ। ४—माधुर्यमूलक कान्तारति की व्यञ्जनाएँ :

(अ) संयोगपरक। (आ) वियोगपरक।

## प्रेषणीयता

कबीर की इन अभिव्यञ्जनाओं में प्रेषणीयता की दृष्टि से पूरी सफलता है। केवल प्रक्रियायोग का उपयोग करने वाली उलटवासियों आदि में अभीष्ट प्रेषणीयता नहीं है। इनमे कबीर का उद्देश्य है विस्मय की सृष्टि करना तथा कतिपय तथ्यों की व्यञ्जना करना। यह उद्देश्य अभिव्यञ्जना-शैली की दुरूहता के कारण असफल हो गया है। चमत्कार के फेर में पड़ कर इनमे संवेद्य खो गया है। शेष अभिव्यञ्जनाओं में कबीर को प्रेषणीयता की दृष्टि से पूरी सफलता मिली है।

अद्वैत तत्व के साक्षात्कार सम्बन्धी वस्तु-व्यञ्जनाओं में प्रेषणीयता भावोद्बोध के रूप मे न हो कर तटस्थ तथ्य-बोध के रूप में होती है। इन उक्तियों में जहाँ अभिव्यञ्जना काव्योपयोगी रही है, वहाँ पाठक अभिव्यञ्जना के सौन्दर्य से अवश्य प्रभावित होता है। जगन्मिथ्यात्वमूलक शान्तरस की अभिव्यक्तियों का प्रभाव पाठक पर बड़ा गहरा पड़ता है। इनकी अभिव्यञ्जना सरल एवं परिचित प्रतीकों के माध्यम से गम्भीर तथा चिरन्तन सत्यों को प्रस्तुत करती है। इनका कवित्व जनसामान्योपयोगी एवं सर्वाङ्गीण है और इनकी सामग्री में साधारणीकरण की सर्वाधिक क्षमता है।

प्रेमानुभूतिमूलक अभिव्यञ्जनाओं में सहृदय पाठकों को प्रभावित करने की सफल क्षमता है। निर्वेद-पुष्ट रामरति की उक्तियों का प्रभाव पाठक पर शुभ-प्रवृत्ति के रूप में पड़ता है। और ९ वाणियों में भी अभीष्ट संवेदनशीलता है। कबीर की प्रेममूलक उक्तियों मे द्वैत-चेतना बाधक नही होती वस्तुत वही सरसता की सच्ची समर्थक सिद्ध होती है

कबीर की रसकल्पना का परम सौन्दर्य कान्ताभाव की अभिव्यक्तियों में ही उपलब्ध होता है। संयोग और विप्रयोग दोनों ही में प्रिय की निराकारता के कारण रहस्य की गुंजाइश हुई है, किन्तु उनकी मधुरिमा अक्षत रही है। संयोग उदात्त है और उसकी परिणति प्रायः बौद्धिक हो जाती है। उसमें कभी-कभी ज्ञानयोग और प्रक्रियायोग के उभार झलक उठते हैं। किन्तु वियोग शुद्ध भावात्मक रहा है। संयोग में स्थूलता नहीं है और वियोग में भावुकतापूर्ण वेदना है, जिसमें कबीर की आत्मा बोलती है। ये अभिव्यक्तियाँ पाठक की चेतना को वस्तुतः आप्लावित करती हैं और सच्चे अर्थों में रस-कोटि में आती हैं। इस प्रकार कबीर की रस-परिकल्पना में निम्न रसों की व्यञ्जना आती है—

१. **शान्तरस**—जगन्मिथ्यात्वमूलक निर्वेदपरक वाणियों में।

२. **भक्तिरस**—निर्वेद-परिपुष्ट शान्त भक्तिरस।

आत्मलघुतापरक दास्य भक्तिरस।

आत्मलघुतापरक बाल्य भक्तिरस।

माधुर्यमूलक कान्तारतिपरक मधुर भक्तिरस।

अ—संयोगपरक, आ—वियोगपरक।

३. **लोकरस**—लोकपरक करुणादि की विविध भाव-व्यञ्जनाएँ।

लोकमङ्गलविघातक तत्वों के प्रति रोष-आक्रोश की भाव-व्यञ्जनाएँ।

४. **अद्भुतरस**—उलटवासियों की दुरूह वस्तु-व्यञ्जनाओं के प्रति गुणीभूत।

इन भाव-व्यञ्जनाओं एवं रस-व्यञ्जनाओं को छोड़ शेष काव्य सामान्यतः वस्तु-व्यञ्जनाओं की कोटि में आता है, जिसमें उलटबासियाँ लक्षणामूलक हैं, शेष अभिधामूलक।

## लोकरस

अभी हमने कबीर के काव्य में 'लोकरस' की चर्चा की है। काव्य-शास्त्र में इस नाम का कोई रस स्वीकार नहीं किया गया, अतः इस पर अभाववाद और अन्तर्भाववाद की कई आपत्तियाँ उठ सकती हैं। अतः इस पर कुछ विचार कर लेना अप्रासङ्गिक न होगा। प्रमुख आपत्तियाँ ये हो सकती हैं—

१—काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में इस नाम का कोई रस नहीं है।

२—यदि इस प्रकार का कोई काव्य मिले भी तो उसकी अनुभूति को 'देवादिविषया रति' के भीतर रखते हुए 'भावध्वनि' कहना चाहिये।

३—लोकरस का 'दयावीर' में अन्तर्भाव कर लिया जा सकता है, अलग नामकरण आवश्यक नहीं।

४—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जो 'करुणा' नामक बीजभाव की चिन्तामणि में चर्चा की है, उसे ही इसका स्थायीभाव बनाया जाय, 'लोकरति' नामक अलग इसका स्थायीभाव मानना आवश्यक नहीं।

५—वाल्मीकि और कबीर की भावस्थिति लगभग समान है। वाल्मीकि को आहत क्रौंच की दशा देख कर उसके प्रति करुणा जगी थी और उसके घातक व्याध के प्रति उनका

रोष-आक्रोश व्यक्त हुआ था। कबीर के हृदय में भी पीड़ित लोक के प्रति करुणा है, पीड़क तत्वों के प्रति रोष-आक्रोश। वाल्मीकि की अनुभूति को प्राचीन विद्वानों ने 'शोक' के भीतर रख कर 'करुणरस' कहा है—'श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः' 'क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः'—तब कबीर की उसी कोटि की अनुभूति-अभिव्यक्ति को भी शोक-स्थायी करुणरस की क्यों न स्वीकार की जाय, अलग 'लोकरस' क्यों कहा जाय ?

और भी इसी प्रकार की कुछ आपत्तियों की सम्भावना की जा सकती है पर प्रमुख ये ही दिखायी पड़ती हैं। इनके होते हुए भी साहित्य में 'लोकरस' की स्वीकृति की आवश्यकता कम नहीं हो जाती। इन पर क्रमशः विचार कर सकते हैं—

१—यह ठीक है कि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इस रस का नाम नहीं है, किन्तु साहित्य मे यह रस बिखरा हुआ मिलता है। वाल्मीकि और तुलसी के चरित-नायकों में लोक-प्रेम किस मात्रा तक समाया हुआ है, इसे कहने की आवश्यकता नही। जब पाठक अपने चरित-नायकों से तादात्म्य करता है, तब इस रस की अनुभूति करता है। आधुनिक साहित्य में, विशेषतः उपन्यास-कहानियो मे, लोक-प्रेम के अनेक चित्र मिलते हैं। भाव के स्थायी होने का सम्बन्ध संस्कारों की व्यापकता और स्थायित्व से है। भरत ने उन्हीं भावों को स्थायी कहा है जिन्हे उन्होंने लोक-व्यापक और चिर संस्कार-रूढ़ समझा है। भाव की व्यापकता समाज-सापेक्ष तत्व है, चिररूढ़ता काल-सापेक्ष। सभ्यता और संस्कृति के विकास ने आज के सुसंस्कृत पाठक में लोक-प्रेम का भाव जगाया ही नहीं है, दृढभूमि भी कर दिया है। काल-परम्परा से जन-मानस में स्थायित्व को प्राप्त इस भाव के काव्यात्मक परिपाक में 'रस' कहलाने की क्षमता आ चुकी है, इसे नवोदित समीक्षक को स्वीकार करना चाहिये।

२—जो लोग काव्य में 'लोकरति' की अनुभूति तो करते हैं किन्तु रूढ़ शास्त्रीय दृष्टिकोण तक ही सीमित रहना चाहते है, वे इसे रस न मान कर 'भाव-ध्वनि' ही कह सकते हैं। उनकी इस स्वीकृति का ही यह अर्थ है कि वे 'लोकरस' की अनुभूति करते हैं, और उसकी सत्ता स्वीकार करते हैं।

३—लोकरस का अन्तर्भाव दयावीर में इसलिए नहीं हो सकता कि दयावीर यद्यपि एक लोक-सम्बद्ध स्थायीभाव 'दया' या 'करुणा' का परिपाक है, फिर भी उसका उत्साह से योग करते हुए वीररस के अन्तर्गत रखा गया है। दयावीर में लोकप्रेमी द्वारा लोक-कल्याण के लिये सहे जाने वाले कष्टों की सोत्साह सहिष्णुता पर ध्यान है। लोकरति उत्साह का विशिष्ट रूप न हो कर रति का ही एक विशिष्ट रूप है। यदि लोकरति से परिचालित हो कर कही उत्साह दिखायी भी पड़ता है तो उस उत्साह को ही उस रति का कार्यात्मक या अनुभावात्मक भाव मानना होगा, न कि कारण रूप रति को ही उत्साह-वर्ग के भावों में अन्तर्भूत किया जायेगा।

४—आचार्य शुक्ल ने जिस करुणा को बीजभाव कहा है उससे 'लोकरति' की परिधि कुछ व्यापक है। करुणा पराये दुःख पर होने वाली दुःखानुभूति है। लोकरति में करुणा भी एक पक्ष है, पर लोकविरोधी के प्रति जागने वाला रोष-आक्रोश करुणा के भीतर नहीं आता। अत बीजभाव लोकरति को स्वीकार करना चाहिये करुणा क्रोध और उत्साह आदि उस बीजभाव की विभिन्न प्रतिक्रियाऐं कहनी चाहिये लोकरति मे एक ही आश्रय में दो आलम्बनों के प्रति दो

अलग-अलग प्रकृति के भाव हो सकते हैं जैसे वाल्मीकि मे क्रौंची के प्रति करुणा और व्याघ के प्रति आक्रोश, किन्तु करुणा की सीमा पर-दुःख पर दुःखानुभूति के पक्ष तक ही सीमित है।

५—वाल्मीकि और कबीर की अनुभूतियाँ एक-सी होती हुई भी एक नहीं हैं। वाल्मीकि से कबीर का 'कैन्वास' बड़ा है। दोनों की अनुभूति-परिस्थितियाँ कुछ भिन्न हैं। वाल्मीकि के सामने आहत क्रौंच पड़ा था, घातक व्याध भी खड़ा हुआ था। अतः उनमें क्रमशः करुणा और रोष का उदय हुआ। कबीर के सामने आहत और घातक व्यक्ति नहीं, वर्ग और समाज है। अतः उनकी अनुभूति में व्यापकता अधिक है। शोक में घनत्व अधिक होता है, करुणा मे व्यापकता। शोक में व्यक्ति स्तम्भित होता है, करुणा में दुःखी आलम्बन के दुःख के कारण की ओर उन्मुख होता है। करुणा पूर्ण सामाजिक भाव है, शोक की सीमा व्यष्टि है। अतः वाल्मीकि के अनुभव को 'शोक' कहा भी जा सके, पर कबीर के अनुभव को तो लोकप्रेम परिचालित ही कहना होगा। कबीर की करुणा और कोप, दोनों ही इस लोकरति की प्रसूति हैं। इतना ही नहीं, यह लोकरति करुणा और कोप के रूप में ही व्यक्त नहीं हुई, अन्य लोक-मङ्गल की शुभ भावनाओं के रूप में भी व्यक्त हुई है।

इस प्रकार लोकरति स्थायीभाव के आधार पर साहित्य में 'लोकरस' को स्वीकृति मिलनी ही चाहिये। कबीर के काव्य में इस लोकरस की भी विविध अभिव्यक्ति हुई है जिसका भावावेश सर्वथा 'अकृत्रिम' है।

# हिन्दी-भक्त-वार्ता-साहित्य

लालताप्रसाद दुबे

प्रस्तुत विषय के अन्तर्गत अनेक भक्तमाल तथा उनकी टीकाएँ, भक्तनामावलियाँ, वी  द
परिचयियाँ, पुष्टिमार्गीय वार्ताएँ तथा उनकी टीका-टिप्पणियाँ आती हैं।

## नाभादास के पूर्व का भक्तवार्ता-साहित्य

नाभादास जी का भक्तमाल सम्पूर्ण भक्त-वार्ता-साहित्य में निस्सन्देह उत्कृष्टतम रचना है और साथ ही पर्याप्त रूप से प्राचीन भी है। प्रायः अब तक विद्वानों की धारणा यह रही है कि नाभादास का ही भक्तमाल कदाचित् सर्वप्रथम भक्तमाल था, किन्तु उनके पूर्व भी भक्तमालों तथा भक्तनामावलियों की परम्परा वर्तमान थी, इसका सङ्केत स्वतः नाभादास जी के भक्तमाल की निम्नाङ्कित पंक्तियों से मिलता है—

**भक्तमाल जिन-जिन कथी, तिनकी जूठन पाय।**
**मों मतिसार अक्षर द्वै, कीनौ सिलौ बनाय॥**

यद्यपि नाभादास के पूर्व का कोई भक्तमाल ऐसा नहीं मिलता जो उनके द्वारा रचित भक्तमाल की शैली में हो, किन्तु दो दादूपन्थी और एक राधावल्लभी भक्तमाल ऐसे प्राप्त हुए है जिनको उनका पूर्ववर्ती अथवा समसामयिक माना जा सकता है। दादूपन्थी भक्तमालों में से एक के रचयिता दादू के शिष्य जगा जी तथा दूसरे के उनके प्रशिष्य चैन जी हैं। तीसरे अर्थात् 'रसिकअनन्यमाल' के रचयिता भगवत मुदित जी हैं। जगा जी के भक्तमाल में केवल ६८ चौपाइयाँ हैं जिनमें लगभग दो-सौ भक्तों के नाम मिलते हैं। इस भक्तमाल की रचना-तिथि का यद्यपि कहीं स्पष्ट उल्लेख नही मिलता, किन्तु अनुमानतः इसका रचना-काल सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है, क्योंकि जगा जी दादू जी की मृत्यु (स० १६६०) के बहुत पश्चात् तक जीवित रहे। इसमें भक्तों के वर्णन का क्रम लगभग वैसा ही मिलता है जैसा कि नाभादास जी के भक्तमाल में। पहले के कुछ छन्दों में सतयुग, त्रेता तथा द्वापर के भक्तों का वर्णन है, तत्पश्चात् कलियुग के भक्तों का। उनमें भी विशेषतया दादूपन्थी भक्तों के नाम ही अधिक मिलते हैं। इसमें मिलने वाले लगभग ३० भक्तों के परिचय नाभादास के भक्तमाल मे भो मिलते हैं।

चैन जी के [illegible] में ढाई-सौ से कुछ अधिक भक्तों के नाम मिलते हैं जिनमें से केवल तीस एस हैं जो [illegible] के [illegible] म हैं इसकी विशेषता यह है कि विभिन्न सन्त सम्प्रदायो

के भक्तों के साथ-साथ सिद्ध और नाथपन्थी योगियों का भी उल्लेख इसमें है। आगे चलकर दादू-पन्थी सन्त राघोदास के भक्तमाल में लगभग इसी योजना का उपयोग किया गया।

यद्यपि उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों को उनके रचनाकारों ने भक्तमाल की संज्ञा दी है किन्तु इन्हें अधिक से अधिक 'भक्त नाममाला' ही कहा जा सकता है, क्योंकि नामों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का परिचय इन भक्तमालों में नहीं मिलता। भगवत मुदितकृत 'रसिकअनन्य-माल' में अवश्य ही भक्तों का परिचय कुछ विस्तार से मिलता है। भगवत मुदित जी गौड़ीय-वैष्णव थे। उन्होंने इस ग्रन्थ में केवल २४ राधावल्लभीय भक्तों का परिचय दिया है। यह नाभादास के पूर्ववर्ती थे अथवा परवर्ती, इस सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। नाभादास जी के भक्त-माल में उनके सम्बन्ध में एक छप्पय (छ० सं० १९८) मिलता है जिसकी टीका प्रियादास ने तीन कवित्तों में की है। इससे यह ज्ञात होता है कि वे नाभादास के पूर्ववर्ती अथवा समसामयिक अवश्य रहे होंगे। कुछ लोग भक्तमाल का भगवत मुदित सम्बन्धी छप्पय प्रक्षिप्त मानते हैं, किन्तु जब तक कि समस्त उपलब्ध प्रतियों के आधार पर पाठालोचन के मान्य सिद्धान्तों के अनुसार भक्त-माल का प्रामाणिक सम्पादन नहीं हो जाता तब तक उसमें भगवत मुदित सम्बन्धी छप्पय मिल जाने के कारण नाभादास को भगवत मुदित का परवर्ती अवश्य मानना पड़ेगा। 'रसिक अनन्य-माल' का रचनाकाल निश्चित रूप से ज्ञात करने के लिए भी हमारे पास कोई उपयुक्त साधन नहीं है, किन्तु उन्होंने प्रबोधानन्द सरस्वती के 'श्री वृन्दावन महिमामृत' नामक संस्कृत ग्रन्थ का व्रजभाषा में अनुवाद किया जो सं० १७०७ चैत्र मास में पूर्ण हुआ। इसके अतिरिक्त 'रसिक अनन्यमाल' में दामोदर जी और उनके शिष्यों का वर्णन किया गया है। दामोदर जी का समय सं० १६३४ से १७१४ तक माना जाता है। इन्हीं साक्ष्यों के आधार पर 'रसिक अनन्यमाल' का रचनाकाल सं० १७१४ के आस-पास माना जा सकता है।

राधावल्लभीय सम्प्रदाय में प्रेमरस की उपासना को शुद्ध रखने के लिए अनन्यता का पालन कड़ाई के साथ किया जाता है। इसलिए इस सम्प्रदाय के भक्तों को 'रसिक अनन्य' कहा जाता है और इसीलिए इस ग्रन्थ का नाम 'भक्तमाल' न होकर 'रसिक अनन्यमाल' हुआ। इन्होंने जिन चौंतीस भक्तों का वर्णन किया है, उनमें से अधिकांश इनके समसामयिक हैं। इनमें से बहुतों के प्रसङ्ग नाभादास के भक्तमाल से मिलते-जुलते हैं। इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन मिलता है, किन्तु कहीं-कहीं इतिहास-विरुद्ध बातें भी मिल जाती हैं।

इन भक्तमालों के अतिरिक्त अनन्यदास ने अनेक परिचयियों की रचना भी नाभादास से पहले ही कर दी थी। पीपा, त्रिलोचन, धना, नामदेव, कबीर, रैदास, राका-बांका की परि-चयियाँ अनन्तदास रचित बतायी जाती हैं। इनमें से नामदेव की परिचयी में उसके रचनाकाल के रूप में सं० १६४५ का उल्लेख मिलता है। खोज-रिपोर्ट में उद्धृत पीपा परिचयी के एक अंश से अनन्तदास की गुरु-परम्परा का परिचय प्राप्त होता है जिसके अनुसार वे अग्रदास के प्रशिष्य और विनोदीदास के शिष्य सिद्ध होते हैं। इससे भी उक्त समय की पुष्टि होती है।

इन परिचयियों का महत्व इस बात में है कि भक्तों के सम्बन्ध में अब तक के उपलब्ध वृत्तान्तों में ये सर्वाधिक प्राचीन सिद्ध होती हैं और उनमे वणन भी काफी विस्तार से मिलते हैं

ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय तक प्रचलित सभी जनश्रुतियों का अनन्तदास ने भरपूर उपयोग किया, इसलिए उसमें अलौकिक तथा अतिरञ्जनापूर्ण प्रसङ्गों का बाहुल्य भी है। आगे चलकर नाभादास के भक्तमाल तथा उस पर प्रियादास की टीका और ८४ तथा २५२ वैष्णवन की वार्ताओं पर इसका काफी प्रभाव पड़ा है। प्रियादास की टीका पर तो सब से अधिक प्रभाव परिचयियों का ही ज्ञात होता है।

नाभादास के पूर्ववर्ती कुछ कवियों ने अपनी रचनाओं में प्रसङ्गवश केवल कुछ भक्तों के नाम थोड़े विशेषणों के साथ गिना दिये हैं। यद्यपि इस प्रकार के उल्लेखों की कोई निश्चित सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती, किन्तु इस प्रवृत्ति विशेष का परिचय देने के विचार से 'व्यास जी की वाणी', माधोदास के 'सन्तगुण सागर', परशुरामजी के 'परशुराम सागर' तथा गिरधारी के 'भक्त माहात्म्य' के प्रसङ्गों पर विशेष रूप से विचार किया गया है, किन्तु इनमें नाम परिगणन के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता।

## नाभादास एवं उनका भक्तमाल

नाभादास आचार्य रामानन्द की परम्परा में आते है। रामानुजाचार्य की तेरहवीं पीढी मे राघवानन्द हुए थे जो रामोपासक थे और भक्ति-आन्दोलन के महान् नेता थे। उनके शिष्य रामानन्द ने भी विष्णु के अन्य रूपों मे राम को ही लोक के लिए अधिक कल्याणकारी समझकर ग्रहण किया और देश, वर्ण, जाति आदि का विचार भक्तिमार्ग से दूर रखा। इनके बारह प्रधान शिष्यों में से अनन्तानन्द के शिष्य कृष्णदास पयहारी थे, जिन्होंने गलता गद्दी का नाथपन्थी योगियो से उद्धार किया। उनके २३ शिष्य बतलाये जाते है जिनमें कोल्हदास और अग्रदास अधिक प्रसिद्ध थे। अग्रदास पयहारी जी के ऐसे शिष्यों मे मे थे जिनके कारण पयहारी जी की ख्याति बढी। इनके दो ग्रन्थों---'विग्व ब्रह्मज्ञान' तथा 'रागावली' में रचनाकाल के रूप में क्रमशः सं० १६४७ तथा सं० १६६० का उल्लेख है। अत. कम से कम सं० १६६० तक इनका वर्तमान रहना सिद्ध होता है। गलता की गद्दी पर कोल्ह के विराजमान होने पर अग्रदास जी उनकी आज्ञा से रैवासा चले आये और वहीं अपनी गद्दी स्थापित की। वहाँ उनके कई शिष्य हुए जिनमें सब से प्रसिद्ध भक्तमालकार नाभादास अथवा नारायणदास थे। नाभादास ने इनको बाग-बगीचों का प्रेमी बतलाया है। इसी आदर्श पर रसिक-सम्प्रदाय के भक्त अब तक राम मन्दिरों में छोटी-बडी फुलवाड़ी लगाया करते हैं और उनके नामों के साथ कुञ्ज, निकुञ्ज, वाटिका अथवा बाग आदि शब्द जोडते है जैसे--श्याम कुञ्ज, राम वाटिका आदि।

नाभादास जी के जन्म तथा जन्म-स्थान के सम्बन्ध में अभी तक मतभेद है। उनके प्रसिद्ध टीकाकार प्रियादास से भी इस सम्बन्ध मे कोई सहायता नही मिलती। प्रायः लोग इनको मलूकदास (जन्म सं० १६३१) का समकालीन मानते हैं। अतः अनुमान से इसी के आस-पास इनका भी जन्म मान लिया गया है। जन्म-स्थान के सम्बन्ध में दो मत मिलते हैं। प्रतापसिंह ने अपने भक्त-माल में उन्हें तैलङ्ग देशवासी बतलाया है जबकि भक्तमाल के एक टीकाकार बालकराम जी ने उन्हें [illegible] का निवासी बतलाया है।

प्रियादास ने को हनुमानवशी है विद्वानो ने हनुमान

अथवा वानर वंशीय लोगों को डोम जाति का सिद्ध किया है। विल्सन ने अपनी पुस्तक 'रेलिजस सेक्ट्स ऑफ़ हिन्दूज़' में लिखा है कि मारवाड़ी भाषा में बन्दर डोम के अर्थ में प्रयुक्त होता है, किन्तु मारवाड़ी भाषा के किसी कोश में ऐसा अर्थ देखने में नहीं आता। दूसरी ओर राजस्थान, काठियावाड़ में क्षत्रियों के कुछ परिवार मिलते हैं, जो अपने को वानर वंशीय कहते हैं। इसी साक्ष्य के आधार पर डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने उन्हें वानर-वंशी क्षत्रिय बताया है जो अधिक उपयुक्त लगता है।

जनश्रुति है कि नाभादास जी जन्मान्ध थे और ५ वर्ष की ही अवस्था में माता-पिता ने इनका परित्याग कर दिया। दैवयोग से कील्हदास तथा अग्रदास को ये मार्ग में पड़े हुए मिले। उन्हीं की कृपा से इनके नेत्र पुनः नवीन हो गये और उन्हीं के साथ गलता आकर साधुओं की सेवा मे जीवन पर्यन्त लगे रहे। नाभादास के नाम से यद्यपि कुछ रामचरित के पद और दो अष्टयाम भी मिलते हैं किन्तु उनकी कीर्ति का स्तम्भ उनके द्वारा रचित भक्तमाल है जिसके दो-सौ चौदह छन्दों में लगभग दो-सौ वैष्णवभक्तों का वर्णन हुआ है। किन्तु एक विलक्षण बात यह है कि सम्पूर्ण भक्तमाल में रचनाकार के रूप में नारायणदास का ही नाम मिलता है, नाभादास का नाम कहीं नहीं मिलता। इसी भ्रम के कारण पाश्चात्य विद्वानों ने भक्तमाल को नाभादास तथा नारायणदास, इन दो व्यक्तियों की रचना माना है। डॉ० किशोरीलाल गुप्त ने इसमें अग्रदास का नाम और जोड़कर भक्तमाल को कम से कम तीन व्यक्तियों की रचना माना है। डॉ० ग्रियर्सन नाभादास और नारायणदास को गुरु-शिष्य मानते हैं और डॉ० किशोरीलाल गुप्त इन्हें गुरुभाई मानते है, किन्तु भक्तमाल को नाभादास की कृति मानने की प्रसिद्धि प्राचीन काल से ही इतनी दृढ़ है कि सहसा उसके विरोधी तथ्यों को स्वीकार करना कठिन लगता है। हमने विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि नाभादास के भक्तमाल की रचना सं० १७१५ के लगभग समाप्त हुई। उसके दो ही वर्ष बाद सं० १७१७ में लिखे जाने वाले दादूपन्थी भक्तमाल के रचयिता राघोदास ने सम्पूर्ण भक्तमाल को स्पष्ट रूप से नारायणदास का ही बतलाया है। उन्होंने अग्रदास के शिष्यों मे भी सर्वप्रथम नाभा का नाम गिनाया है और नारायणदास का उल्लेख तक नहीं किया है। भक्तमाल के प्रसिद्ध टीकाकार प्रियादास (रचना-काल सं० १७६८) ने भी नाभादास को भक्तमाल का रचयिता माना है।

इसी प्रकार का भ्रम भक्तमाल के छप्पयों की संख्या के सम्बन्ध में भी है। गार्सा द तासी, डॉ० ग्रियर्सन तथा शिवसिंह सेंगर ने माला के १०८ मनकों के सादृश्य पर भक्तमाल के छप्पयो की संख्या १०८ मानी है और गार्सां द तासी ने ऐसी एक प्रति का उल्लेख भी किया है जिसमें उतने ही छन्द हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उनकी संख्या ३१६ मानी है। किन्तु आजकल उसके सर्वाङ्गिक प्रचलित संस्करण (रूपकला सम्पादित) में कुल २१४ छन्द हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि भक्तमाल का प्रामाणिक सम्पादन हो जाने के पश्चात् ही इस प्रकार की समस्याओं का उचित समाधान हो सकता है और तभी हम उसके रचयिता के सम्बन्ध मे किसी अन्तिम निष्कर्ष तक पहुँच सकते हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने भक्तमाल की रचना की भिन्न तिथियाँ दी हैं और अधिकांश ने अपने मत के समर्थन मे कोई प्रमाण नहीं उपस्थित किया है इधर कुछ समय से

अन्तःसाक्ष्य के आधार पर उसके रचना-काल का पता लगाने के अनेक प्रयास हुए हैं, किन्तु निश्चयात्मक रूप से अभी कुछ भी नहीं कहा जा सकता। श्री वासुदेव गोस्वामी ने वल्लभ-सम्प्रदाय के चतुर्भुजदास का वर्णन भक्तमाल में मिलने के कारण उसे सं० १६८६ बतलाया जाता है। इसी प्रकार पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने अन्तःसाक्ष्यों के ही आधार पर उसके रचनाकाल की सीमा सं० १६४०-९० तक निर्धारित की है। इसके पूर्व के विद्वानों ने भक्तमाल में तुलसीदास का उल्लेख मिलने के कारण उसकी रचना सं० १६८० के पूर्व मानकर इस समस्या को यों ही छोड़ दिया था। भक्तमाल जिस रूप में आज उपलब्ध है, उसमें सबसे बाद के भक्त महाराजा जसवन्त सिंह सिद्ध होते हैं। उक्त महाराजा का स्वर्गवास सं० १७३५ में हुआ था और उनका वर्णन भक्तमाल में वर्तमान रूप मे मिलने के कारण (जैसा कि 'भ्राजमान' शब्द से स्पष्ट है) उसकी रचना सं० १७३५ के पूर्व हुई होगी। इसके बाद की किसी घटना का उल्लेख भक्तमाल में नही मिलता। शाहजहाँ के राज्यकाल में जसवन्त सिंह को अत्यधिक सम्मान मिला था और स० १७१४ में इनका मनसब सातहजारी कर दिया गया था और इस बात के अनेक प्रमाण मिलते है कि सं० १७१५ तक वे हिन्दू धर्म रक्षक के रूप में विख्यात हो चुके थे क्योंकि औरङ्गजेब ने स० १७१६ के अपने एक पत्र में लिखा था कि "जसवन्त सिंह काफ़िर है जो मस्जिदों को तोड़ कर उनके स्थान पर मन्दिर बनवा लेता है।" श्री महावीर सिंह गहलौत ने इन्हीं जसवन्त सिंह के साक्ष्य के आधार पर भक्तमाल का रचना काल सम्वत् १७१५ के लगभग माना है और उसके वर्तमान रूपान्तर के रचनाकाल के लिए यही तिथि सबसे अधिक उपयुक्त लगती है। इसकी पुष्टि दो अन्य बातों से भी हो जाती है—एक तो यह कि गार्सा द तासी और ग्रियर्सन ने यह माना है कि भक्तमाल का संशोधन तथा परिवर्धन शाहजहाँ के शासन काल में समाप्त हो चुका था और यह सर्वमान्य है कि उसका शासन-काल सं० १७१५ में समाप्त हुआ था। दूसरा उससे भी पुष्ट प्रमाण यह है कि राघोदास के भक्तमाल में जिसकी रचना सं० १७१७ में हुई, नाभाकृत भक्तमाल का उल्लेख ही नहीं है वल्कि उसके कुछ अंशों का शब्दशः अनुकरण भी है।

भक्तमाल में भक्तों का वर्णन दो शैलियों में मिलता है—अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली भक्तों का वर्णन प्रायः पूरे छप्पय में किया गया है जबकि गौण भक्तों का वर्णन अनेक का एक ही छप्पय में मिलता है। वर्णनों में किसी पूर्वापर क्रम का ध्यान नहीं रखा गया है। उसमें मिलने वाले वर्तमानकालिक कुछ प्रयोगों द्वारा यह भी ज्ञात होता है कि अनेक भक्त नाभादास के समकालीन थे।

भक्तमाल के अनेक अलौकिक तथा अतिरञ्जनापूर्ण घटनाओं के वर्णन मिलते हैं। इन घटनाओं के समावेश का कारण यह ज्ञात होता है कि नाथपन्थी योगियों के ही समय से अनेक सिद्धियो की कथाएँ जनता में काफ़ी प्रचलित हो चुकी थीं और आगे चलकर इस प्रवृत्ति का प्रचलन वैष्णव-भक्तों के सम्बन्ध में भी उसी प्रकार हो गया था। इन त्रुटियों के बावजूद भी नाभादास के भक्तमाल की वर्णन शैली में ऐसी कुछ असाधारण विशेषताएँ हैं जिनके कारण अभी तक भक्तवार्ता-साहित्य में उनसे होड़ लेने वाला कोई दूसरा रचयिता नहीं हो सका। चारित्रिक विशेषताओ के वे सिद्धहस्त पारखी ज्ञात होते हैं और उनकी पैनी दष्टि भक्तों की सर्वाधिक प्रधान विशेषताओं को ढूढ़ निकालने मे पूणत सफल हो सकी है इसलिए प्रत्येक भक्त के सम्बन्ध में इन्होंने

जिन विशेषणों का प्रयोग किया है वे बड़े अर्थपूर्ण और उनकी चारित्रिक विश्लेषण-प्रतिभा के परिचायक हैं।

अनन्तदास की परिचयियों तथा भक्तमाल के तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि पीपा, धना, नामदेव, रैदास विषयक कुछ प्रसङ्ग दोनों रचनाओं मे समान रूप से पाये जाते है जबकि त्रिलोचन,कबीर, राँका-बाँका के प्रसङ्गों में समानता नहीं पायी जाती। नाभादास का समय अनन्तदास के बाद पड़ता है, अतः यह सम्भव है कि नाभादास ने समान प्रसङ्गों को परिचयियों से ग्रहण किया होगा किन्तु भक्तमाल में अनन्तदास का कोई उल्लेख नहीं मिलता, केवल उनके गुरु विनोदीदास तक का उल्लेख मिलता है। अतः यह भी सम्भव है कि परिचयी तथा भक्तमाल समकालीन रचनाएँ हों तथा दोनों का कोई सामान्य आधार रहा हो।

रसिक अनन्यमाल के ३४ भक्तों में से केवल सात भक्तों के वर्णन नामा जी के भक्तमाल मे मिलते हैं जिनके नाम है---व्यास, हरिदास तुलाधारी, चतुर्भुजदास, परमसेन, गैमल, भवन, जसवन्त सिंह। इनमें से परमसेन को छोड़कर प्रायः सभी भक्तों के प्रसङ्ग दोनों ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से समान है, यहाँ तक कि उनमें शब्द तथा वाक्य-साम्य भी मिलते हैं। नाभादास ने भक्तमाल मे भगवतमुदित का उल्लेख किया है किन्तु उस प्रसङ्ग में उनकी रचना 'रसिक अनन्यमाल' का नाम नहीं दिया है, अतः बहुत सम्भव है कि दोनों रचनाएँ समकालीन रही हो और दोनों का कोई अन्य सामान्य स्रोत रहा हो।

## नाभादास के बाद का भक्त-वार्ता-साहित्य

नाभादास के दर्जन ग्रन्थों का पृथक्-पृथक् परिचय देते हुए पूर्ववर्ती ग्रन्थों से उनकी तुलना की गयी है। आलोच्य-ग्रन्थों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं---

राघोदासकृत 'भक्तमाल' (सं० १७१७), उत्तमदासकृत 'रसिकमाल' (सं० १७४०-४५), जयकृष्णकृत 'हितकुलशाखा' (सं० १७६०), चन्द्रदासकृत 'भगत बिहार' (सं० १८०७), रामदासकृत 'भक्तमाल' (सं० १८५५), ध्रुवदासकृत 'भक्त नामावली' (सं० १७१५ के दो-चार वर्ष बाद), षेमदासकृत 'भक्तपचीसी' (सं० १७१९ के लगभग), मलूकदासकृत 'ज्ञानबोध', 'भगतवछल' (सं० १७३९ के कुछ पूर्व), नागरीदास कृत 'पदप्रसङ्ग माला' (सं० १८११ के लगभग), भीखादासकृत 'राज हिंडोला' (सं० १८१७ से ४८ के बीच किसी समय), भगवत रसिककृत 'निश्चयात्मक ग्रन्थ उत्तरार्ध' (सं० १८३० से ५० के बीच), लघुजनकृत 'भक्तमाल सन्त सुमिरनी' (सं० १८५० के लगभग), चैनरायन (प्रियादास के शिष्य) की 'भक्त सुमिरनी' (१९वीं शताब्दी का प्रथम चरण), दयालदासकृत 'करुणासागर' (सं० १८५०--६०), भगतकृत 'भगत चालीसा' (सं० १८५७ के कुछ समय बाद), सुधामुखीकृत 'भक्त नामावली' या 'हरिजन जसावली' (सं० १८५० के बाद), चाचा हित वृन्दावनदासकृत 'हरिप्रताप बेली' (सं० १८०३), 'भक्तिप्रसाद बेली' (सं० १८०९), 'हितहरिवंश सहस्रनाम' (सं० १८१२), 'रसिक अनन्य परिचावली' तथा चन्द्रलालकृत 'वृन्दावन प्रकाश माला' (सं० १८२४) एवं गोविन्द अलिकृत 'रसिकअनन्य गाथा' (सं० १८४४)। इनमें से पिछले दो ग्रन्थों की प्रतियाँ प्राप्त नहीं हो सकी और हित रसिक अनन्य का केवल आंशिक परिचय

खोजरिपोर्ट तथा डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के शोधप्रबन्ध से प्राप्त हो सका। उपर्युक्त ग्रन्थों में से राघोदासकृत 'भक्तमाल', उत्तमदासकृत 'रसिकमाल', चन्द्रदासकृत 'भक्त विहार', ध्रुवदासकृत 'भक्तनामावली' तथा नागरीदासकृत 'पद प्रसङ्गमाला' अधिक महत्वपूर्ण हैं।

राघोदास जी पीपावंशी चाङ्गल गोत्र के क्षत्रिय थे। यह पहले वैष्णव थे, किन्तु बाद में दादू पन्थी हो गये थे। इनका भक्तमाल अभी तक अप्रकाशित है। प्रस्तुत अध्ययन दादू विद्यालय, जयपुर में सुरक्षित एक हस्तलिखित प्रति पर आधारित है। इन्होंने नाभादास के अनुकरण पर सं० १७१७ में अपने भक्तमाल की रचना की। इसकी विशेषता यह है कि इसमें दादूपन्थ, कवीरपन्थ, निरञ्जनी-पन्थ और नानकपन्थ का वर्णन नाभादासकृत भक्तमाल की अपेक्षा अधिक विस्तार से मिलता है। हमने दोनों भक्तमालों के समान प्रसङ्गों का तुलनात्मक अध्ययन करके यह दिखलाया है कि दोनों में अत्यधिक साम्य है, यहाँ तक कि किसी-किसी प्रसङ्ग में नाभादास भक्तमाल की पूरी-पूरी पंक्तियाँ ज्यों की त्यों राघोदास ने अपने भक्तमाल में दी हैं। तुलनात्मक अध्ययन करते समय कुछ ऐसी बातें अवश्य मिलती है जिनका समाधान हो जाना अति आवश्यक है। उदाहरण के लिए उन्होंने नन्ददास को रामानन्द-सम्प्रदाय के अन्तर्गत रखा है तथा परमानन्ददास और सूरदास का वर्णन निम्बार्क-सम्प्रदाय के अन्तर्गत किया है जबकि पुष्टिमार्गीय साहित्य के अनुसार तीनों अष्टछाप के कवि तथा वल्लभ-सम्प्रदायी माने जाते हैं। इस भक्तमाल का महत्व विशेषतया इसी बात में है कि दादूपन्थ, कवीरपन्थ निरञ्जनीपन्थ सम्बन्धी जितनी सामग्री इसमें है, उतनी अन्यत्र कठिनाई से मिलेगी। इसके अतिरिक्त भी षट्दर्शन, संन्यासी दर्शन तथा जोगी दर्शन (गोरखनाथ आदि) शीर्षक देकर उन्होंने अन्य अनेक सन्तों तथा योगियों का परिचय दिया है जिनका नाभादास या उनके पहले के किसी भी भक्तमाल में कोई उल्लेख नहीं था।

उत्तमदास जी हितवल्लभ सम्प्रदाय के गोस्वामी कुन्दलाल के शिष्य थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ में हित चरित्र के साथ-साथ भागवतमुदिकृत 'रसिक अनन्यमाल' के आधार पर हित जी तथा उनके प्रमुख शिष्यों का वर्णन किया है। उनका हितचरित्र अनेक प्रतियों में भगवतमुदित की रचनाओं के साथ मिलने के कारण बहुत से लोगों ने भ्रमवश इसे भी भगवतमुदित का मान लिया था। यह ग्रन्थ भी अभी मुद्रित नहीं हो सका है, किन्तु इसकी दो प्रतियाँ काशी नागरी प्रचारणी सभा में उपलब्ध हैं।

नाभादास के भक्तमाल से इसकी तुलना करने पर यह ज्ञात होता है कि दोनों में परस्पर कोई साम्य नहीं है। इसके विपरीत 'रसिक अनन्यमाल' में इनके द्वारा दी हुई सभी सामग्री प्राप्त हो जाती है और इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि इसका एकमात्र आधार-ग्रन्थ वही है।

चन्द्रदास जी हँसुवाग्राम (जिला फ़तेहपुर) के सहगल खत्री थे। इन्होंने संवत् १८०७ में 'भक्त बिहार' की रचना की थी जो अभी तक अप्रकाशित है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति साहित्य सम्मेलन, प्रयाग में है। इसमें लगभग १२५ कलियुगी भक्तों का वर्णन है जिनमें से २५ भक्तों को छोड़कर शेष सबका उल्लेख नाभादास के भक्तमाल में भी मिलता है। वर्णन का क्रम भी के आदर्श पर है किन्तु अधिक नैकट्य प्रियादास की टीका तथा की परिचयियों से ज्ञात होता है

ध्रुवदास जी देवबन (जिला सहारनपुर) के कायस्थ थे और हित हरिवंश के द्वितीय पुत्र गोपीनाथ जी के शिष्य थे। इन्होंने ४२ ग्रन्थों की रचना की थी जिनमें से 'ध्रुवनामावली' नामक एक ग्रन्थ में लगभग १२६ भक्तों के नाम कहीं-कही कुछ प्रसङ्गों के साथ दिये गये हैं। यह ग्रन्थ राधाकृष्णदास द्वारा सम्पादित होकर प्रकाश में आ चुका है। ध्रुवदास ने नारायणदास (नामादास)तथा उनके ग्रन्थ की अत्यधिक प्रशंसा की है, जिससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्हें नाभादास से ही प्रेरणा प्राप्त हुई।

नागरीदास जी का मूल नाम सावन्त सिंह था और ये किशनगढ़ राज्य के राजा थे। गृह-कलह से ऊबकर इन्होंने राज्य का परित्याग कर दिया और वृन्दावन आकर रणछोड़ जी से दीक्षा ग्रहण की थी, जो वल्लभाचार्य जी की पाँचवीं पीढ़ी में पड़ते है। इनके ग्रन्थों का संग्रह 'नागर समुच्चय' नाम से प्रकाशित हो चुका है, जिसमें 'पद प्रसङ्गमाल' नामक एक परिचयात्मक ग्रन्थ ६०-६१ पृष्ठों का मिलता है। इसकी विशेषता यह है कि प्रत्येक भक्त के एक या अधिक प्रसङ्गो का उल्लेख कर उनके साथ उनके बिशिष्ट-पद मी उद्धृत किये गये हैं। कुल मिलाकर लगभग ३६ भक्तों का वर्णन मिलता है। यद्यपि इसमें वर्णित कुछ प्रसङ्गों का साम्य नाभादास के भक्तमाल से मिलता है किन्तु अधिक प्रभाव प्रियादास की टीका का ही है। दोनों में पाये जाने वाले लगभग १६ भक्तों के प्रसङ्गों में शब्दों तथा वाक्यों तक का साम्य मिल जाता है, केवल मुरारिदास के प्रसङ्ग में एक घटना का वर्णन पृथक्‌रूप में मिलता है। नागरीदास ने प्रियादास की टीका का स्वतः उल्लेख किया है, इसलिए यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि वही उनका मुख्य स्रोत है।

## नाभादास के भक्तमाल की टीकाएँ तथा टिप्पणियाँ

इनमें प्रियादास की टीका 'भक्ति रसबोधिनी', भक्तमाल तथा प्रियादास की टीका पर वैष्णवदास की टिप्पणी, भक्तमाल पर जमाल की टिप्पणी, प्रियादास की टीका का लालदासकृत उर्दू अनुवाद 'भक्ति उरबसी' तथा भक्तमाल पर बालकराम की टीका प्रमुख हैं।

प्रियादास जी चैतन्य-सम्प्रदायी थे। इन्होंने भक्तमाल पर अपनी प्रसिद्ध टीका रस-बोधिनी की रचना सं० १७६९ में समाप्त की। इस टीका का मुख्य आधार पूर्ववर्ती भक्तमाल साहित्य, परिचयी साहित्य तथा भक्त नामावलियाँ हैं। प्रथम प्रकार की रचनाओं में भगवत मुदितकृत 'रसिक अनन्यमाल' और उत्तमदासकृत 'रसिक माल' महत्वपूर्ण हैं। परिचयियों मे सबसे अधिक अनन्तदास की परिचयियों का उपयोग हुआ है। तीसरी कोटि की रचनाओं मे ध्रुवदास की 'भक्त नामावली' प्रमुख है, इनके अतिरिक्त उस समय तक प्रचलित समस्त जनश्रुतियो का उन्होंने भरपूर उपयोग किया है। वैसे तो प्रियादास जी ने सर्वत्र भक्तमाल की सामग्री तथा उसके क्रम का अनुसरण किया है, किन्तु कहीं-कहीं ऐसे नवीन भक्तों तथा उनसे सम्बद्ध प्रसङ्गों का उल्लेख किया है जो मूल भक्तमाल में नहीं मिलते हैं।

नाभादास के भक्तमाल के साथ ही साथ टीका का भी महत्व अक्षुण्ण है और इसमें सन्देह नहीं कि यदि प्रियादास की टीका न होती तो भक्तमाल के लगभग दो-सौ चरित्रों में से अधिकाश के विषय में अनभिज्ञ रहना पड़ता क्योंकि भक्तमाल में कुछ घटनाओं का केवल सङ्केत मात्र या

यह सत्य है कि बिना टीका के भक्तमाल महत्वहीन हो जाता और यह भी सत्य है कि भक्तमाल-कार को ऊपर उठाने का कार्य प्रियादास ने ही किया। टीका का महत्व इसी बात से आँका जा सकता है कि इसका अनुवाद बँगला, मराठी, उड़िया तथा उर्दू आदि अनेक भाषाओं में हुआ है तथा इसी के अनुकरण पर अन्य अनेक सम्प्रदायों में टीकाएँ लिखी गई।

वैष्णवदास प्रियादास जी के पौत्र थे। भक्तमाल तथा प्रियादास की टीका पर उनका लिखा हुआ प्रसङ्ग या टिप्पण अधिक प्रसिद्ध है, किन्तु यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित हैं। इसकी तीन हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं जिनमें डॉ० माताप्रसाद गुप्त के निजी संग्रहालय की प्रति का उपयोग प्रस्तुत अध्ययन में किया गया है। इनकी एक रचना 'गीतगोविन्द भाषा' के आधार पर इसका रचना काल सं० १८०० के लगभग माना जा सकता है।

वैष्णवदास ने भक्तमाल के छप्पय तथा प्रियादास के पद उद्धृत कर, उनमें आई हुई विशिष्ट शब्दावली पर दृष्टान्तरूप में या तो उसी कवि की रचनाएँ उद्धृत की है, जिसका कि वर्णन चलना रहता है अथवा भावों के सम्यक् स्पष्टीकरण के लिए अन्य कवियों की रचनाएँ भी उद्धृत की है। उनके टिप्पण का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि भक्तों के जीवनवृत्त सम्बन्धी तथ्यों के सञ्चय की ओर वैष्णवदास की उतनी रुचि नहीं है जितनी विशिष्टभावों अथवा पद समूहों के समानार्थी उद्धरणों के सङ्कलन की ओर। परिणामस्वरूप यह रज्जब जी की 'सर्वाङ्गी' अथवा जगन्नाथ जी के 'गुणगञ्जनामा' (दोनों अप्रकाशित) के सदृश सन्त-साहित्य का एक आदर्श सङ्कलन ग्रन्थ बन गया है।

जमाल के व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में अधिक ज्ञात नहीं है। खोज रिपोर्ट में इनकी भी एक टिप्पणी का परिचय मिलता है और जितना भी अंश खोज रिपोर्ट में उद्धृत है वह वैष्णव-दास की टिप्पणी से बहुत कुछ मिलता-जुलता है, किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी इसकी पूर्ण प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी।

बालकराम ने भी नाभादासकृत भक्तमाल पर ब्रजभाषा में एक टीका लिखी है किन्तु उसका रचना-काल सं० १९३२ है। अतः प्रस्तुत अध्ययन की सीमा के बाहर होने के कारण उस पर विचार नहीं किया गया है।

## नाभादास के परवर्ती भक्तमालों की टीकाएँ तथा टिप्पणियाँ

इनमें राघोदास के भक्तमाल पर चतुरदास की टीका प्रमुख है। इसकी रचना सवत् १८५७ में हुई थी। पुष्पिका के अनुसार टीका के छन्दों की संख्या ६५२ है। जिस प्रकार राघोदास के भक्तमाल का मूल आधार नाभादास का भक्तमाल है, उसी प्रकार चतुरदास की टीका का मूल आधार प्रियादास की टीका है। चतुरदास ने प्रियादास का प्रायः अन्धानुकरण किया। अपनी टीका की भूमिका में भक्ति-पञ्चरस तथा भक्तमाल स्वरूप वर्णन आदि में प्रियादास की टीका का अनुकरण किया ही है। अनेक भक्तों के समान प्रसङ्गों में केवल यत्किञ्चित् शाब्दिक अन्तरों के साथ प्रियादास के वाक्यों को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है, कहीं-कहीं तो उनका अनुकरण हास्यास्पद हो गया है: उदाहरण के लिए प्रियादास जी ने

को मधुर भावना का होने के कारण भाववती लिखा है तो

चतुरदास जी ने राघोदास जी को 'राघव मालिनि' कहकर अपने अविवेक का परिचय दिया है।

## बीतक तथा परवर्ती परिचयियाँ

बीतक प्रणामी-सम्प्रदाय का जीवनी साहित्य है और यह शब्द 'वृत्त' अथवा 'वृत्तान्त' अर्थ में प्रयुक्त होता है। प्रणामी-सम्प्रदाय के सत्रह बीतकों में से निम्नलिखित सात बीतके अधिक प्रसिद्ध हैं—

(१) स्वामी लालदास कृत बीतक, (२) ब्रजभूषण कृत बीतक या वृत्तान्त मुक्तावली, (३) मुकुन्द स्वामी अथवा नौरङ्ग स्वामीकृत बीतक, (४) हंसराज स्वामीकृत बीतक (५) स्वामी लल्ल महराजकृत बीतक, (६) जैरामदासकृत बीतक, (७) बहुरङ्गस्वामीकृत बीतक।

इनमें से लालदासकृत बीतक प्रमुख है और उसी का अनुसरण अन्य बीतककारों ने भी किया है। लालदास काठियावाड़ के निवासी थे तथा स्वामी प्राणनाथ के प्रमुख शिष्यों में से थे। वे सिन्धी, कच्छी, गुजराती, मारवाड़ी, हिन्दी, संस्कृत, फ़ारसी तथा अरबी आदि कई भाषाओं के जानकार थे। प्रणामी-साहित्य के ग्रन्थ 'कुलजम-स्वरूप' के पश्चात् लालदास के बीतक का ही स्थान है। इसका रचनाकाल सं० १७५१ है। इस ग्रन्थ में कुल चार हज़ार से अधिक चौपाइयाँ हैं। इसमें प्रणामी धर्म के मूल प्रवर्तक श्री देवचन्द तथा प्राणनाथ के प्रामाणिक जीवनवृत्त मिलते हैं। लालदासकृत बीतक के अनुसार प्राणनाथ का जन्म जामनगर में सं० १६७५ में हुआ था। संवत् १६८७ में इन्होंने देवचन्द से दीक्षा ली। सं० १७०३ में अरब गये वहां चार वर्ष तक रहे। सं० १७१० से १२ तक एक राजा के यहाँ का शासन कार्य सँभाला और उसके पश्चात् धर्म-प्रचार का कार्य करने लगे। कुछ चुगलखोरों के कारण इन्हें बन्दीगृह में डाला गया था। वहीं पर इन्होंने अनेक वाणियों की रचना की। प्राणनाथ का व्यक्तित्व कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।

इन्होंने बहुत दूर-दूर का पर्यटन किया था और सर्वधर्म समन्वय का प्रचार किया। इनकी निर्भीकता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि औरङ्गजेब जैसे कट्टर शासक के विरोध में इन्होंने धर्मयुद्ध छेड़ा था। जीवनी साहित्य में इस बीतक का एक महत्वपूर्ण स्थान है। पुष्टिमार्गीय वार्ताओं तथा परिचयियों की भाँति बीतक में केवल अलौकिक चमत्कारों का वर्णन नहीं है बल्कि उसमें वर्णित बहुत-सी घटनाएँ ऐतिहासिक कसौटी पर सत्य उतरती हैं, यह उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। भाषा की दृष्टि से भी इसका महत्व अक्षुण्ण है, क्योंकि पाँचवे अध्याय के सत्रहवीं सदी की खड़ीबोली का जीता-जागता अन्तर्प्रान्तीय रूप सुरक्षित है और इस बोली के द्योतक 'हिन्दवी' तथा 'हिन्दुस्तानी' आदि नाम हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम एक हिन्दी लेखक द्वारा इसी रचना में प्रयुक्त हुए हैं। यह एक प्रकार से खड़ीबोली की प्रथम प्रामाणिक रचना है। ब्रजभूषण हंसराज और नौरङ्ग स्वामी की बीतकें ब्रजभाषा में लिखी गई हैं और लल्लूजी महाराज की बीतक गुजराती में है। इनमें से ब्रजभूषण के बीतक को छोड़कर शेष सभी अप्रकाशित हैं।

जिन परिवर्ती परिचयियों पर इस अध्याय में विचार किया गया है उनके नाम तथा रचनाकाल क्रमशः इस प्रकार है

(१) जनगोपालकृत 'दादू जन्मलीला परची' (१७वीं शताब्दी वि०), (२) षेमदास-कृत 'गोपीचन्द वैराग्यबोध' (सं० १७४०-४२ के लगभग), (३) रघुनाथदासकृत हरिदास की परिचयी (सं० १७४५ के कुछ पूर्व), (४) रूपदासकृत 'सेवादास की परिचयी' (सं० १८३२ वि०), (५) रामस्वरूपकृत 'चरनदास की परिचयी' (सं० १८४०-४१), (६) बोधदासकृत 'जगजीवन साहब की परिचयी' (सं० १८४८), (७) दयालदासकृत 'रामदास की परिचयी' (स० १८५५), (८) मथुरादासकृत 'मलूकदास की परिचयी' (सं० १७६४ के बाद)। इनमे से केवल तीन परिचयियाँ—'दादूजन्म लीला परिचयी', 'जगजीवन साहब की परिचयी' तथा 'रामदास की परिचयी' प्रकाशित हैं शेष सब अप्रकाशित हैं।

प्राय: सभी परिचयीकारों का उद्देश्य अपने चरितनायकों के विषय में अलौकिक तथा चमत्कारपूर्ण घटनाओं का वर्णन कर अन्य सम्प्रदाय वालों पर उनका प्रभाव दिखलाना ही ज्ञात होता है। पूर्ववर्ती भक्तवार्ता-साहित्य से तुलना करने पर यह ज्ञात होता है कि कुछ परिचयियो पर भक्तमाल और अनन्तदासकृत परिचयियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है तथा कुछ परवर्ती परिचयियों पर उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रियादास की टीका का अत्यधिक प्रभाव है। प्राय सभी परिचयियों में प्रमुख रूप से दोहा, चौपाई, एवं सवैया, छन्दों का प्रयोग हुआ है।

## पुष्टिमार्ग की भक्त-वार्ताएँ तथा उनकी टीकाएँ

वार्ताओं के मुख्यतया तीन रूपान्तर प्रचलित है—चौरासी वैष्णवन की वार्ता, दो-सौ बावन वैष्णवन की वार्ता तथा भावसिन्धु की वार्ता। इन पर 'भावप्रकाश' नामक टीका हरिराय की लिखी हुई बतलाई जाती है।

पुष्टिमार्गीय साहित्य में चौरासी तथा दो-सौ बावन वैष्णवन की वार्ताओं का बहुत बडा महत्व है। गद्य में लिखे होने के कारण उनका साहित्यिक तथा भाषापरक मूल्य भी है और अनेक भक्तों की जीवनियाँ गुम्फित होने के कारण उनका धार्मिक महत्व भी है। किन्तु इन पर ऐसा साम्प्र-दायिक पर्दा पड़ा हुआ है कि इनके असली रूप का पता नहीं चलता और उनका मूल रचयिता कौन था तथा उनकी रचना कब हुई, इन सब बातों का पता लगाना एक तटस्थ शोधक के लिए कठिन समस्या है। कुछ लोग गोकुलनाथ जी को वार्ताओं का मूल रचयिता मानते हैं, किन्तु इनमे यत्र-तत्र गोकुलनाथ जी का नाम ऐसे ढग से मिलता है कि इसका मूल-लेखक उनके अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति जान पड़ता है। दो-सौ बावन वैष्णवन की वार्ता में गोकुलनाथ जी (सं० १६०८ के आस-पास) के बाद की कुछ घटनाओं के वर्णन मिलने के कारण—जैसे गङ्गाबाई की वार्ता—उन्हे गोकुलनाथकृत मानने में और भी अधिक कठिनाई होती है। भावसिन्धु की वार्ता में कुल २१ वैष्णव-भक्तों की वार्ताएँ मिलती हैं किन्तु इनमें भी गोकुलनाथ जी का नाम कई स्थलों पर इस रूप मे आया है जिससे वे उसके मूल रचयिता नही ज्ञात होते। इसके अतिरिक्त उसमें अनेक इतिहास विरुद्ध घटनाओं का वर्णन होने के कारण वह बहुत बाद की रचना ज्ञात होती है। अत कुछ लोगों ने यह कल्पना की है कि इनके मूल प्रणेता श्री गोकुलनाथ जी थे और उनके आदि लेखक कृष्ण भट्ट थे तथा श्री हरिरायजी ———— रूप के रचयिता थे। किन्तु इस प्रकार के अनमानों से वार्ताओं की          और भी अधिक उलझ गयी है  कृष्णभट्ट की लिखी हुई कोई मूल पोथी

उपलब्ध नहीं है और हरिराय जी को भी अधिक से अधिक टिप्पणीकार माना जा सकता है यद्यपि वह भी पूर्णतया निस्सन्दिग्ध नहीं।

चौरासी वैष्णवन की वार्ता के आधार पर यह भी ठीक-ठीक निर्धारित नहीं हो सकता कि गुसाईं विट्ठलनाथ के ८४ शिष्य वस्तुतः कौन-कौन थे। अनेक कारणों से हमें ऐसा प्रतीत होता है कि आठ वैष्णवभक्तों की अतिरिक्त वार्ताओं का समावेश कालान्तर में किसी प्रकार हो गया है जिसके कारण ८४ संख्या बढ़कर ९२ तक पहुँच गई है। पुष्टिमार्गीय वार्ताओं का उल्लेख न तो नाभादास और राघोदास ने किया है और न प्रियादास तथा चतुरदास ने अपनी टीकाओं में ही उनका कोई उल्लेख किया है। इसके विपरीत एक 'चूहड़े की वार्ता' में वार्ताकार ने स्पष्ट रूप से उसकी तुलना भक्तमाल के रचयिता नाभादास से की है जिससे निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि वार्ताओं की रचना भक्तमाल के बाद हुई है। प्रियादास की टीका, नागरीदासकृत 'पद प्रसङ्गमाला' तथा 'गोविन्द परिचयी' की तुलना वार्ताओं से करने पर यह ज्ञात होता है कि इन सब में परस्पर आदान-प्रदान हुआ है। किन्तु साथ ही साम्प्रदायिक दुराग्रह के कारण भ्रमात्मक वर्णनों की संख्या वार्ताओं में अपेक्षाकृत अधिक है। उदाहरण के लिए महाराजा आशकरण तथा मीराबाई के प्रसङ्ग लिये जा सकते हैं। साथ ही प्रियादास जैसे बहुश्रुत विद्वान और चार पीढ़ियों से पुष्टिमार्ग में दीक्षित एक सम्भ्रान्त परिवार में होने वाले नागरीदास ने कहीं भी इन वार्ताओं का उल्लेख नहीं किया जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वार्ताओं के वर्तमान रूपान्तर कदाचित् प्रियादासकृत टीका (रचनाकाल सं० १७६९) तथा नागरीदासकृत 'पद प्रसङ्गमाला' (रचनाकाल सं० १८१९) के पश्चात् तैयार हुए। इतना अवश्य है कि वार्ताएँ पहले से प्रचलित रही होंगी किन्तु बाद में जैसे-जैसे अन्य वैष्णव भक्त होते गये, उनकी वार्ताएँ भी मूल ग्रन्थ में मिला दी गई हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण भक्तवार्ता साहित्य का अवलोकन करने पर यह ज्ञात होता है कि यद्यपि इनमें उपलब्ध प्रसङ्गों में अतिरञ्जना और अलौकिकता का प्राधान्य है, किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से सतर्कतापूर्वक छानबीन करने पर मध्यकालीन भक्तों के इतिवृत्त-निर्माण में पर्याप्त सहायता मिल सकती है। किन्तु इनकी पूर्ण उपयोगिता तभी सम्भव है जबकि इनमें से मुख्य-मुख्य ग्रन्थों का विशेषतया नाभादासकृत भक्तमाल तथा पुष्टिमार्गी वैष्णवों की वार्ताओं का प्रामाणिक पाठ-निर्णय हो जाय। इन ग्रन्थों की उपयोगिता धार्मिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही, इनका सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक महत्व भी कम नहीं है, क्योंकि तत्सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री इनमें यत्र-तत्र बिखरी हुई मिलती है। मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन के इतिहास का निर्माण करने में इन ग्रन्थों की सहायता अनिवार्य रूप से लेनी पड़ती है। इन-सभी ग्रन्थों में नाभादास और राघोदासकृत भक्तमालों, पुष्टिमार्गीय वार्ताओं तथा प्रणामी सम्प्रदाय के बीतकों का अध्ययन अनेक दृष्टियों से अपेक्षित है।

# गुप्त-संवत्

## चन्द्रकान्त बाली

भारत की अन्य अनेक संवत्-गणनाओं की तरह 'गुप्त-संवत्-गणना' भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। राष्ट्र मे सांस्कृतिक एकता चाहनेवाले, राष्ट्र के लिए एक संवत् को वाञ्छनीय बता सकते हैं; उनके मत में, जैसे मुस्लिम-जगत् में एक संवत् प्रचलित है—हिजरी सन्, ईसाइयो मे भी केवल एक सन् का प्रयोग होता है, उसी प्रकार भारत में भी सांस्कृतिक अभिन्नता को अक्षुण्ण रखने के लिए यदि एक संवत् का प्रचलन रहता अथवा हो जाय तो राष्ट्र का स्वरूप ही कुछ और होता अथवा हो जाय; यह बात अपने आप में बड़ी वजनदार है; परन्तु किसी लम्ब-कालीन इतिहास के लिए किसी एक संवत् को बनाए रखना न तो सुविधा-जनक था और न ही लाभदायक। उदाहरणतः सृष्टि-संवत् को ही ले लें, कौन स्मरण रख सकता है कि आज सृष्टि-संवत् का १९७२-९४९०६३वाँ वर्ष है। इसी प्रकार कलि-संवत् की गणना भी स्मृति-पटल पर हर समय ताजा नहीं रह सकती। मानव स्वभावतः लाघवता में रुचि रखता है। दूसरे, भारतीय संवत्-गणनाओं के साथ एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात जुड़ी हुई है। भारत बहुत बड़ा देश है। जाने कितने बार इसे 'एकात्मक' शासनाधीन लाने के प्रयत्न हुए, पर यह अनेक बार अनेक राज्यों में, अथवा प्रदेशों मे, अथवा मण्डलों में बिखरता रहा; जब-जब यहाँ एकात्मक शासन स्थापित करने के यत्न हुए, तब-तब ऐतिहासिक स्मृति को स्फूर्त रखने के लिए नये-नये संवत् स्थापित करने की आवश्यकता महसूस हुई। युधिष्ठिर-संवत्, शूद्रक-संवत्, विक्रम-संवत् तथा गुप्त-संवत्—इन सबको इसी दृष्टि-से देखना और विचारना चाहिये। वहरहाल, अनेकता में एकता स्थापित करने वाले भारतीय आचार्यों ने इन अनेक संवत्-गणनाओं में भी ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक एकता के दर्शन किये हैं। इस प्रसङ्ग में 'गुप्त-संवत्' को संवत्-गणनाओं में से वैज्ञानिक स्तर पर रखना या स्थिर करना, इतिहास के बहुत बड़े मील-पत्थर को खोज निकालने से कम नहीं है।

आज गुप्त-संवत् की यथार्थ जानकारी के स्रोत प्रायः लुप्त हो गये हैं। अब तक इस विषय के लिए जो-कुछ भी जुटाया जा सका है, अनुमान उन सब में मूर्धन्य स्थान पर है। शेष ठोस आधार नहीं के बराबर है। अपने वक्ष पर गुप्त-गणना को अङ्कित किये जितने शिलालेख अब तक मिले हैं, उन पर किसी अन्य सहवर्ती गणना के न होने से जटिलता ने और अधिक गम्भीर रूप ले लिया है। कतिपय इतिहासकारों ने कानोंकान चली आ रही बातों को विश्वास में लेकर जिस विधि से 'गुप्त-संवत्' सुस्थिर किया है, वह चिन्त्य है। ये जनश्रुतियाँ कभी-कभार तो आश्चर्यजनक सत्य एवं ठोस रूप में परिणत हो जाती हैं' वैसे प्राय' निराधार कपोल-कल्पित ही सिद्ध होती हैं गुप्त-सवत' के बारे मे जिस जनश्रुति' को गया है वह इतिवृत्त-मूलक एव वैज्ञानिक

न होने पर भी आश्चर्यवर्धक कमाल सिद्ध हुई है। इतने पर भी गुप्त-संवत् के विषय में जो निर्णय लिये गये हैं, वे सभी वास्तविक एवं प्रामाणिक हैं—ऐसा मान लेने का समय अभी नही आया। इतिहासकारों ने गुप्त-गणना के लिए जो आरम्भिक-बिन्दु नियत किया है, उसमे तथा अभिनव शोध से उपलब्ध गणना में कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं है; इनमें केवल बारह वर्षों का अन्तर है। इतिहास में इस प्रकार के छोटे-मोटे अन्तर को गम्भीरतापूर्वक विश्वास में प्रायः नहीं लिया जाता। पर, चूँकि गुप्त-संवत् का सारा भवन अनुमान की कच्ची नींव पर खड़ा है, अतः भय है कि कही इस भवन को बार-बार गिराया न जाय, गिरा-गिरा कर बनाया न जाय, इसे ठोस आधार देने की आवश्यकता है। और यह भी सम्भव है कि इतिहासकार, विनायक बनाते-बनाते वानर ही बनाने न लग जाँय, औचित्य इसी में है कि गुप्त-संवत् की नींव में पड़े अनुमान को—जिस पर अधिक भरोसा करना भयावह है—अपदस्थ किया जाय और वह स्थान वैज्ञानिक, भूयोभूयः परीक्षित एवं ठोस तथ्यों को दिया जाय। अन्यथा, जो हाल दूसरे संवतों के साथ हो गया है, कहीं वही हाल गुप्त-संवत् के साथ न हो जाय। अर्थात् 'विक्रमादित्य' इस नाम-साम्य के कारण शालिवाहन-सवत् तथा साहसाङ्क-संवत् 'कथामात्र' भी नहीं रहे। आज इन संवतों के बारे में कौन क्या जानता है? शूद्रक-विक्रमादित्य, मालव-विक्रमादित्य, साहसाङ्क-विक्रमादित्य तथा चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य को अभिन्न मानने का जो प्रवाद उठ खड़ा है, वह एक-न-एक दिन संवत्-विज्ञान पर, और इसी व्याज से इतिहास पर, लीपापोती करके ही दम लेगा। जब निराधार 'अनुमान' साधार वैज्ञानिक 'सत्य' में परिणत हो जायगा, तब कल्पना-प्रसूत एवं अनैतिहासिक प्रवाद स्वतः शान्त हो जायगा—केवल इसी विश्वास ने प्रस्तुत निबन्ध को कलेवर दिया है। अस्तु।

अलबेरूनी लिखता है, शक-संवत् के २४१ वर्ष-पश्चात् 'गुप्त-संवत्' चला। उसने जो कुछ भी लिखा है, सब सुन-सुनाकर लिखा है। अपने कथन को पुष्ट करने के लिये उसके पास तर्क, पार्थिव प्रमाण (ताम्रपत्रादि) तथा उद्धरण आदि कुछ भी नहीं है। उसने यह भी नहीं लिखा कि किस शक-संवत् के २४१ वर्ष-पश्चात गुप्त-संवत् चला; पाठक इसी लेख में देखेंगे कि शक-संवत् एक नही, बल्कि चार हैं। और-तो-और, उसने गुप्त-संवत् तथा वल्लभी-भङ्ग सवत् को अभिन्न प्रतिपादित किया है। इस प्रसङ्ग में अलबेरूनी ने जो अङ्क दिये हैं, वे इस प्रकार हैं—

"१०८८ विक्रम-संवत् : ९५३ शक काल : ७१२ वल्लभी संवत्"

इससे स्पष्ट है कि विक्रम-संवत् से १३५ वर्ष-पश्चात् शक संवत् चला—९५३+१३५=१०८८, और शक-संवत् से २४१ वर्ष पश्चात् वल्लभी-भङ्ग बनाम गुप्त-संवत् चला—७१२+२४१=९५३। इसकी पुष्टि एक अन्य भ्रान्त श्लोक से भी हो जाती है; जिसके अनुसार विक्रम-संवत् के ३७५ वर्ष पीछे वल्लभी-भङ्ग हुआ—

विक्रमादित्य भूपालात् पञ्चर्षित्रिकवत्सरे।
जातोऽयं वल्लभी भङ्गः ज्ञानिनः प्रथमं ययुः॥

अतः १३५+२४०=३७५ विक्रमी में वल्लभी भङ्ग होना प्रायः मान लिया गया है। परन्तु यह श्लोक कितना भ्रान्त है, इसकी चर्चा आगामी पृष्ठों में मिल जायगी। वल्लभी-भङ्ग तथा गुप्तसवत् को अभिन्न मानने के दो कुपरिणाम निकल सकते हैं

१ वल्लभी-भङ्ग गुप्तों द्वारा हुआ, २. गुप्तोदय तथा वल्लभी-भङ्ग साथ-साथ हुआ।

हम जानते हैं कि ये दोनों बातें निराधार हैं, पर जनश्रुति पर अधिक आश्वस्त लोग इन दो में से एक बात को अवश्यमेव पत्थर की लकीर मान लेंगे। पर केवल इस कथन-मात्र से विद्या-वृद्धों को सन्तोष हो जायगा---ऐसी कोई आशा नहीं है। अलबेरूनी के कथन की परीक्षा करनी होगी और हमें सोचना होगा कि किस शककाल के २४१ वर्ष-पश्चात् गुप्त-संवत् का 'अथ' माने ? अपनी संवत्-सारिणी पर तो चार-चार शक-संवत् विद्यमान हैं ही।

# प्रथम भाग

चार शक-संवतों का विश्लेषणात्मक परिचय इस प्रकार से है:---

**प्रथम-शक**---इस शक-संवत् को बहुत कम लोग पहचानते है। यह युधिष्ठिर-संवत् के २५२६वें साल पीछे चला, जिसका उल्लेख वराहमिहिर ने किया है---**"षड्-द्विक-पञ्च-द्वियुतः शककालः तस्य राज्ञश्च।"** इसका सफलतापूर्वक प्रयोग राजपण्डित कल्हण ने किया है। आज इस शक-संवत् का (१९६२ ई०) २५७७वाँ वर्ष है। प्रश्न होना स्वाभाविक है कि क्या इस शक-काल के २४१ वर्ष-पश्चात् गुप्त-संवत् का आरम्भ मानना तर्क-सङ्गत होगा ? यदि यह सत्य है तो गुप्त-संवत् की स्थापना युधिष्ठिर-संवत् २७६७ से, तदनुसार ३७५ ईसा-पूर्व माननी होगी। अपना विश्वास यह है कि इस प्रकार का साहस करना इतिहास की पवित्रता एवं अपनी समझदारी---दोनों से खिलवाड़ करना है, दोनों को मुँह चिढ़ाना है। प्रथम शक ६१५ ईसा-पूर्व सर्व-सम्मत है। इस रहस्य को भी आगामी पृष्ठों में देखने का यत्न करेंगे।

**द्वितीय शक**---दूसरा शक-संवत् वह है, जो शालिवाहन के नाम से चला और बीचो-बीच लुप्त हो गया। स्पष्ट ही, सम्राट् शालिवाहन जन्मना ब्राह्मण था और पञ्जाब की नाग-ब्राह्मण-शाखा में से था। इसी ने मुल्तान के निकट लोनी दुर्ग के पास करूर (कहरोड़ पक्का) में शकों को परास्त किया था और तभी से उसकी गणना भी शक-काल के अन्तर्गत मानी जाती है---**"शका नाम म्लेच्छजातयो राजानः ते यस्मिन् काले विक्रमादित्यदेवेन व्यापादिताः स कालो लोके शक इति प्रसिद्धः॥"** इस शक-संवत् की पहिचान यह है कि यह प्रसिद्ध विक्रम-मालव-संवत् से ९० वर्ष पश्चात् चला। आज इस शक-संवत् का १९३०वाँ वर्ष है। इसी की ध्वनि पृथ्वीराज रासो में सुनाई पड़ती है। सवाल पैदा होता है कि क्या उक्त शक-काल से २४१ वर्ष-पश्चात् गुप्त-गणना मान्य है ? यदि हाँ, तो गुप्त-संवत् की स्थापना ईसवी २७३ से माननी होगी; कारण, विक्रमादित्य शालिवाहन ३२ ईसवी में विद्यमान थे। राजतरङ्गिणीकार का भी कुछ ऐसा ही मत है। इस पक्ष पर विचार करना तभी युक्ति-सङ्गत होगा, जब अन्य दो शक-कालों का परिचय पा लिया जाय।

**तृतीय शक**---यह संवत् एक तरह से लुप्त हो गया है। अपनी समस्या को सुलझाने के लिए इतिहास के पुरातत्त्व का उत्खनन करना होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि चतुर्थ शक तृतीय शक को निगल गया है परन्तु जब तक प्राचीन अभिलेख सुरक्षित पड़े हैं तब तक इसके सर्वथा

मिट जाने का कोई भय नहीं है। हम इस शक-संवत् का नाम रख लेते हैं---'साहसाङ्क-संवत्।' विक्रमादित्य का पुत्र था महेन्द्रादित्य---उसके दो पुत्र एवं एक पुत्री हुई। पुत्री तो व्याही गई मातवाहनीय हाल के साथ, और पुत्रों ने अपने-अपने क्षेत्र में राज्य-सँभाला; जिनके नाम थे---साहसाङ्क और विक्रमाङ्क। साहसाङ्क ने भी कहीं शकों को हराया होगा और अपना अलग-से संवत् चलाया होगा; यथा---**"द्रौपदी विक्रमादित्यः साहसाङ्कः शकान्तकः।"** अतः उसके समय को 'शकनृपकालातीत' कहना ठीक है। आज इसका १८९७वाँ साल है। तदनुसार इसका आरम्भ ६५ ईसवी सन् से मानना युक्त है।

**चतुर्थ शक**---साहसाङ्क के भाई विक्रमाङ्क ने भी अपना एक संवत् चलाया। दुर्भाग्य का तमाशा देखिये कि इसने अपने संवत् का नाम 'विक्रम-संवत्' रखा, जिसे प्रसिद्ध गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त ने भी स्मरण किया है---**"वत्सरं स्वं शकान् जित्वा प्रावर्तयत् वैक्रमम्।"** ये दोनों भाई शालिवाहन के वंशधर होने के नाते 'शाक' ही कहलाते थे। यथा---**"पञ्चोत्तर षट्शतवर्षाणि पञ्चमासयुतानि गत्वा पश्चात् विक्रमाङ्कः शकराजो जायते।"** स्पष्ट है कि महावीर-निर्वाण के ६०५ वर्ष-पश्चात्, तदनुसार ७८ईसवी, होनेवाले शकराज का नाम विक्रमाङ्क है। साहसाङ्क और विक्रमाङ्क का विपर्यय-चक्र कुछ ऐसा चला कि साहसाङ्क की गणना लुप्त हो गई, विक्रमाङ्क का नाम लुप्त हो गया; गणना रही विक्रमाङ्क-संवत् की और नाम रह गया दादा का; शके शालिवाहनीये---इत्यादि। दुर्भाग्य का तमाशा यहीं समाप्त नहीं हो जाता, बल्कि इसकी कड़ियाँ आगे भी चलती हैं। इस शक-संवत् का सम्बन्ध चस्टनों के राज्य-स्थापन के साथ जोड़ा जा रहा है, जो कि हमारी नम्र सम्मति में सर्वथा अशुद्ध है। इसे प्रसिद्ध मालवविक्रम-संवत् से १३५ वर्ष पश्चात् माना जाता है। यथा---

**स एव पञ्चाग्निकुभिर्युक्तः स्यात् विक्रमस्य।**
**रेवाया उत्तरे तीरे संवन्नाम्नाति विश्रुतः।**

आज (१९६२ ई०) इस शक-संवत् का १८८४वाँ साल है, इसे ही भारत सरकार ने राज-मान्यता दे दी है।

फिर वही प्रश्न सामने आता है कि गुप्त-संवत् किस शककाल के २४१ वर्ष-पश्चात् माने ? निश्चय रूप से अलबेरूनी का सङ्केत चौथे शक-संवत् के २४१ वर्ष-पश्चात् गुप्त-गणना स्थापित करने के लिए है; प्रायः इतिहासकारों ने इसे मान लिया है। परन्तु अपनी राय इसके विपरीत है। हम शत-प्रतिशत दावे के साथ गुप्त-संवत् को तृतीय शक-संवत्---जिसे अब साहसाङ्क संवत् कहना कहीं अधिक यथार्थ है---से २४१ वर्ष-पश्चात् स्थापित करने जा रहे है।

हमें इस प्रसङ्ग में एक बात का स्मरण हो आया है। फ्लीट महाशय ने गुप्त-संवत् को शक-संवत् से २४२ वर्ष-पश्चात माना है। इधर डाक्टर वासुदेव उपाध्याय (रीडर, पटना विश्वविद्यालय) ने तर्क जुटाकर, यूँ ही फरजी संवत्-सारिणी उपस्थित कर फ्लीट महाशय का खण्डन किया है। डॉ० उपाध्याय अलबेरूनी-कथन पर अधिक आश्वस्त हैं और अपनी समस्त मान्यताओं के लिए उसी पर निर्भर करते हैं। अपने-अपने स्थान पर दोनों सच्चे हैं। फ्लीट महाशय ने अपनी धारणा का कोई स्रोत नहीं दिया अन्यथा उसका लिखना इतना ठीक और युक्ति-युक्त है कि

जिसका खण्डन हमारे पास भी नहीं। हमारे विज्ञ-पाठक देखेंगे कि गुप्त संवत्, सचमुच साहसाङ्क-शक संवत् के २४१ वर्ष-पश्चात नहीं, वल्कि २४२ वर्ष-पश्चात् ही यथार्थ है। चार-चार शक-संवतों की सारिणी गुप्त-संवत् को इस प्रकार स्पष्ट करती हैं—

प्रथम सारिणी

| नाम | प्रथम तिथि | ईसवी | वर्तमान | (ईसवी) |
|---|---|---|---|---|
| प्रथम शक-संवत् | १–१–१ | ६१५ ई० पू० | २५७७ | (१९६२) |
| द्वितीय शक-संवत् | १–१–१ | ३२ ईसवी | १९३० | (१९६२) |
| तृतीय शक-संवत् | १–१–१ | ६५ ई० | १८९७ | (१९६२) |
| चतुर्थ शक-संवत् | १–१–१ | ७८ ई० | १८८४ | (१९६२) |

द्वितीय सारिणी

| नाम | प्रथम तिथि | शक काल पश्चात् | (आज ईसवी) |
|---|---|---|---|
| (क) गुप्त-संवत् | १–१–१ | प्रथम शक से २४१ | २२३७ : १९६२ |
| (ख) गुप्त-संवत् | १–१–१ | द्वितीय शक से २४१ | १६९८ : १९६२ |
| (ग) गुप्त-संवत् | १–१–१ | साहसाङ्क शक से २४२ | १६५५ : १९६२ |
| (घ) गुप्त-संवत् | १–१–१ | विक्रमाङ्क शक से २४१ | १६४३ : १९६२ |

चूँकि अलवेरूनी का कथन सर्वथा अनुमान-मूलक एवं श्रुति परम्परागत है, अतः उसने इतिहासकारों के लिए एक समस्या खड़ी कर दी। इसके अतिरिक्त उसने अपने-आप को स्व-वचन-व्याघात से न केवल असत्य सिद्ध कर दिया है, वल्कि शोध करने वालों को नई दिशा ढूंढ़ने की प्रेरणा भी दी है कि—"क्रूर गुप्तों के नाश से यह संवत् चला"।

निष्कर्ष यह कि—(क) शक-संवत् का निश्चित निर्देश न मिलने से, (ख) गुप्त-संवत् तथा वल्लभी भङ्ग के समन्वय से, तथा (ग) गुप्त-विजय अथवा गुप्तनाश के विकल्प से अलवेरूनी का कथन सर्वथा निराधार सिद्ध हो जाता है। क्या निराधार कथन पर आश्रित एवं निर्णीत इतिहास वास्तविक रह सकेगा? इस पर अव अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं रह गई है।

# द्वितीय भाग

गुप्त-संवत् के वारे में अपनी स्पष्ट राय यह है कि **शालिवाहन विक्रमादित्य के पौत्र, महेन्द्रादित्य के पुत्र, साहसाङ्क-विक्रमादित्य के नाम से चल रहे तृतीय शक-संवत् के २४२ वर्ष पश्चात् गुप्त-संवत् की स्थापना सर्वथा निश्चित है और वल्लभी-भङ्ग से उसका अभेद भी एकदम से कल्पित एवं निराधार है** हमारे इस निर्धारण को अनेक तथ्यों साक्ष्यों एवं जनश्रुतियों का समर्थन प्राप्त है पूर्व इसके कि हम अपनी स्थापना के लिए तथ्य बटोर लायें विवादों और प्रवादों का खण्डन

करें, मालव-संवत्, साहसाङ्क-संवत्, विक्रमाङ्क-संवत् तथा ईसवी-सन् के साथ-साथ गुप्त-संवत् को प्रस्तुत संवत्-सारिणी में देख-परख लें और विचार-विनिमय का कुछ आधार बना लें; यथा—

| मालव संवत् | नाम | ईसवी | साहसाङ्क शक | विक्रमाङ्क शक | गुप्त-संवत् |
|---|---|---|---|---|---|
| १[1] | ईश्वर[2] | ५७ पू० | — | — | — |
| १२३ | प्रमाथी[2] | ६६ ई० पू० | १[2] | — | — |
| १३६ | नन्दन | ७९ ई० पू० | १४ | १ | — |
| ३६५ | वृष[3] | ३०८ ई० पू० | २४३[3] | २३० | १[3] |
| ३७७ | विजय[4] | ३२० ई० पू० | २५५ | २४२ | १२[4] |
| ४२०[5] | धाता[5] | ३६३ ई० पू० | २९८ | २८५ | ५६[5] |
| ४२५ | वृष[6] | ३६८ ई० पू० | ३०३ | २९० | ६१(५)[6] |
| ४४६ | शुभकृत् | ३८९ | ३२४ | ३११ | ८२ |
| ४५७ | प्रमादी | ४०० | ३३५ | ३२२ | ९३ |
| ४७७ | श्रीमुख[7] | ४२० | ३५५ | ३४२ | ११३[7] |
| ४८१ | ईश्वर[8] | ४२४ | ३५९ | ३४६ | ११७[8] |
| ४८८ | तारण[9] | ४३१ | ३६६ | ३५३ | १२४[9] |
| ४९२ | सर्वधारी[10] | ४३५ | ३७० | ३५७ | १२८[10] |
| ४९३[11] | विरोधी[11] | ४३६ | ३७१ | ३५८ | १२९[11] |
| ४९७ | विजय[12] | ४४० | ३७५[12] | ३६२ | १३३ |
| ५०० | दुर्मुख[13] | ४४३ | ३७८ | ३६५ | १३६[13] |
| ५१० | पराभव[14] | ४५३ | ३८८ | ३७५ | १४६[14] |
| ५७७ | प्रमादी | ५२० | ४५५ | ४४२ | २१३ |
| ६७७ | विजय | ६२० | ५५५ | ५४२ | ३१३ |
| ७७७ | श्रीमुख | ७२० | ६५५ | ६४२ | ४१३ |
| ८७७ | प्रमादी | ८२० | ७५५ | ७४२ | ५१३ |
| ११४१ | ईश्वर[15] | १०८४ | १०१९[15] | १००६ | ७७७ |
| ११५५ | खर[16] | १०९८ | १०३३[16] | १०२० | ७९१ |
| १३६४ | रुद्र[17] | १३०७ | १२४२[17] | १२२९ | १००० |
| १३६८ | रक्ताक्ष[18] | १३११ | १२४६[18] | १२३३ | १००४ |
| १४९९ | युवा[19] | १४४२ | १३७७[19] | १३६४ | ११३५ |
| १५३३ | सौम्य[20] | १४७६ | १४११(१२) | १३९८ | ११६९ |
| २०१९ | राक्षस[21] | १९६२ | १८९७ | १८८४ | १६५५ |

बड़े आश्चर्य की बात है कि भण्डारकर की प्रस्तुत सूची में एक भी ऐसा उल्लेख नहीं मिला कि जिसमें साठ संवत्सरों में से किसी एक नाम का उद्धरण हो और उसके अङ्कों का ताल-मेल

विक्रमाङ्क शक संवत् से हो, अतः साहसाङ्क शक-संवत् के २४२ वर्ष पश्चात् गुप्त-संवत् की स्थापना निर्विवाद एवं विज्ञान-सम्मत है। प्रस्तुत सारिणी का सम्यक् पर्यालोचन कर लेने पर गुप्त-संवत् पर विधिपूर्वक विचार करते हैं।

(१) अलबेरूनी ने प्रतिपादित किया है कि शकों के २४१ वर्ष पश्चात् गुप्त-संवत् का आरम्भ हुआ। हम इस कथन में थोड़ा संशोधन कर रहे हैं। वह यह कि यहाँ शकों से तात्पर्य चष्टन या कुषाणवंश को लेना नितान्त भ्रामक है; कारण, अभी तक चष्टनों का समय निश्चित नहीं है। शेष रह जाते हैं दो भाई—साहसाङ्क और विक्रमाङ्क। ये भी शाक हैं। विक्रमादित्य शालिवाहन के पौत्र होने से ये भी शाक ही कहलाते थे। अतः इनकी संवत्-गणना को 'शक', 'शाक', 'शकनृप-कालातीत', 'शालिवाहनीये' कहना निरर्थक नहीं है। अतः साहसाङ्क-संवत् भी शक-संवत् है और विक्रमाङ्क-संवत् भी शक-संवत् है। इनमें तेरह वर्षों का पार्थक्य छोटे-बड़े भाई के नाते सम्भव है। अतः अलबेरूनी के कथन को शक-संवत् से विच्छिन्न कर साहसाङ्क शक-संवत् से जोड़ देने से सारी समस्या का समाधान सरल हो जाता है। यह सर्वविदित है कि ईसा की छठी शती के पश्चात्वर्ती सभी अभिलेख साहसाङ्क-शक-संवत् के अनुसार हैं, विक्रमाङ्क-शक-संवत् के अनुसार नहीं। मालव-संवत् से ऊर्ध्ववर्ती सभी आलेख प्राचीन शक-संवत् (६१५ ई० पू०) के अनुसार हैं। कहीं-कहीं कुछ एक लेख शालिवाहन के निज संवत् (३२ ई० पू०) के अनुसार भी हैं। अतः ईसा की छठी शती से पूर्व चलने वाले गुप्त-संवत् को साहसाङ्क शक-संवत् से जोड़ना सम्भव है।

(२) गुप्त-संवत् के प्रसङ्ग में दूसरी बात जिसे हम अधिक आग्रह-पूर्वक रख रहे हैं और जो सदा स्मरण रखनी चाहिये कि गुप्त-संवत् की स्थापना श्रीगुप्त-घटोत्कच के राज्यकाल में नहीं हुई। अनुमानतः, चन्द्रगुप्त प्रथम के अप्रत्याशित शक-विजय के उपलक्ष्य में गुप्त-संवत् की स्थापना हुई होगी। गुप्त-संवत् के आरम्भ में गणनानुसार ३०७ ईसवी तथा ३६४ मालव-संवत् होना चाहिये। यहाँ अनिवार्य लक्ष्य करने की बात यह है कि गुप्त-संवत्सर का आरम्भ जिस संवत्सर से माना जा रहा है, उसका नाम है—'वृष'। प्रसङ्गवश या कुतूहल-वश अन्य संवत्-गणनाओं के प्रथम संवत्सरों के नाम नीचे उद्धृत कर रहे हैं, ताकि कभी भ्रम-निवारण के लिए काम आ सकें; यथा—

(१) युधिष्ठिर-संवत्—१ : प्रमादी
(२) कलि-संवत्—१ : विजय
(३) शूद्रक-संवत्—१ : कालयुक्त
(४) प्रथम शक-संवत्—१ : कालयुक्त
(५) मालव विक्रम-संवत्—१ : ईश्वर[२२]
(६) विक्रम शालिवाहन संवत्—१ : पराभव
(७) साहसाङ्क शक-संवत्—१ : प्रमाथी
(८) विक्रमाङ्क शक-संवत्—१ : नन्दन
(९) गुप्त-संवत् १ वृष
१० ईसवी सन् १ भाव

(३) विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी अपना पृथक् संवत् चलाना चाहा, जिसे सफलता नहीं मिली; परन्तु उसके अप्रत्याशित उभार के कारण इतिहास में एक जनश्रुति चल पडी जिससे कि गुप्त-संवत् की निश्चिति में थोड़ा योगदान मिल सका। उसके अपने चलाये संवत् का साक्ष्य यह है—

**श्री चन्द्रगुप्तस्य विजय राज्य संवत्सरे पंचमे (५) कालानुवर्तमान संवत्सरे एक षष्ठ ६ + १ ''**

यहाँ विस्मयोद्बोधक तथ्य यह है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा स्थापित संवत् के प्रथम संवत्सर का नाम भी 'ईश्वर' ही है। और अपने मतानुसार मालव-विक्रम-संवत् का आरम्भ 'धाता' नामक संवत्सर से ही ठीक है। इसमें सम्भूत एकवर्षीय भूल की चर्चा पीछे कर ही आए है अतः 'धाता' से गणना करने पर ६० × ७ = ४२० युवा, ४२१ धाता और ४२२ ईश्वर; जो आइने अकबरी के अनुसार ठीक है। इससे अनुमान होता है कि अकबर-युग तक लोगों के पास मालव-विक्रम-सवत् की स्वस्थ—अर्थात् भूल रहित—परम्परा विद्यमान थी और गुप्त-संवत् की गणना भी भटक नहीं गई थी। यदि विक्रमाङ्क-शक-संवत् के २४१ वर्ष-पश्चात् गुप्त-संवत् मान लें तो दोनों विक्रमादित्यों में ४३४ वर्षो का पार्थक्य पैदा हो जाता है, जिसे आईने-अकबरी की उक्ति सहन नहीं कर सकती। अतः चन्द्रगुप्त प्रथम द्वारा स्थापित, साहसाङ्क शक-संवत् से २४२ वर्ष पश्चात् गुप्त-गणना तभी वैज्ञानिक आधार पा सकती है, जब उसे अलबेरूनी की स्थापना से १२ वर्ष ऊपर ले जाया जाय, अन्यथा नहीं। यह स्थापना भिन्न-भिन्न साक्ष्यों के समन्वय से अधिक-से-अधिक सत्य सिद्ध हो रही है। जाने फ्लीट महाशय को २४१ से २४२ वर्षो की बात कैसे सूझ गयी?

(४) प्रस्तुत प्रसङ्ग में एक ऐसे साक्ष्य को उद्धृत कर रहे हैं, जो कई दृष्टियों से अद्भुत है। गुप्त-संवत् का मूल प्रवर्तक चन्द्रगुप्त प्रथम है, चन्द्रगुप्त द्वितीय नहीं; जब कि इतिहास की अनेक विस्मयकारी घटनाएँ चन्द्रगुप्त-द्वितीय को आवेष्टित किये हैं, चन्द्रगुप्त-प्रथम को नहीं। यहाँ यह भ्रम होना नितान्त स्वाभाविक है कि कहीं चन्द्रगुप्त-द्वितीय का संवत् ही गुप्त-संवत् न हो! संवत्-सारिणी में चन्द्रगुप्त-द्वितीय की संवत्-स्थापना वाली बात प्रत्यक्ष देख ही रहे है। हो-न-हो, चन्द्रगुप्त-प्रथम का संवत् लुप्त हो गया हो और चन्द्रगुप्त-द्वितीय का संवत् उभर कर गुप्त-संवत् के रूप में ख्यात हो गया हो! जरा इसकी भी परीक्षा कर लें।

चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने गुप्त-संवत् के ५६वें वर्ष में अपने भाई को मार कर महादेवी ध्रुव-स्वामिनी से विवाह किया था, उस वर्ष सारिणी के अनुसार मालव-विक्रम-संवत् का ४२०वाँ वर्ष था; जो कि ईसवी-सन् ३६३ के अनुरूप है। चन्द्रगुप्त के इस शौर्य-कथानक को कई ग्रन्थो मे देखते हैं, जिनमें से एक यह है—

**हत्वा भ्रातरमेवराज्यमहरत् देवीं च दीनस्ततो—**
**लक्ष्यं कोटिमलेखयत् किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः।**

प्रश्न होना स्वाभाविक है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने ये सब कब कर डाले? कब भाई को मारा और कब भ्रातृपत्नी को निज महिषी बना डाला? हमें इन सब प्रश्नो का उत्तर

विशाखदत्त की दो रचनाओ से मिल जाता है उसकी दो रचनाए ये हैं मुद्राराक्षसम् और 'दैवीचन्द्रगुप्तम्'। मुद्राराक्षस में एक स्थान पर लिखा है—

**"स श्रीमद् बन्धुभृत्यः चिरमवतु महीं पार्थिवः चन्द्रगुप्तः॥"**

अर्थात् रामगुप्त का 'बन्धुभृत्य' राजा चन्द्रगुप्त पृथ्वी की रक्षा करे! इसका ध्वनितार्थ यह निकलता है कि मुद्राराक्षस-निर्माण तक न तो द्वितीय चन्द्रगुप्त ने शकों को हराया था और न ही 'वध-विवाह-काण्ड' का अपराध ही किया था। फिर एक समय ऐसा आया जब उसने ये दोनों कार्य सम्पन्न कर डाले; उसने ध्रुवस्वामिनी को चाहने वाले शकराज को मार गिराया—

**(क) अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेषगुप्तः। चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयत्।**
**(ख) स्त्रीवेषनिह्नुतः चन्द्रगुप्तः शत्रोः स्कन्धवारमरिपुरं शकपतिवधायागमत्।**

और बाद में भाई को मार कर भाभी को पत्नी बना डाला जिस पर विशाख दत्त को नया नाटक लिखना पड़ा—'दैवीचन्द्रगुप्तम्'। परिणामतः, चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने 'मुद्राराक्षस' नाटक के पश्चात् और' दैवीचन्द्रगुप्त' के पुरस्तात् 'वध-विवाह-काण्ड' का भयङ्कर अपराध किया और इसी प्रसङ्ग में नया संवत् चलाने का असफल प्रयास भी किया। इतना जान लेने पर भी वह प्रश्न वहीं-का-वहीं अटल खड़ा है कि चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने ये सब काम कब या किस वर्ष किये? इसका उत्तर पाने के लिए हमें 'मुद्राराक्षस' का गम्भीर पर्यालोचन करना होगा। उक्त नाटक के कई स्थल बड़े महत्वपूर्ण हैं; यथा—

(क) नाटक का आरम्भ 'चन्द्रग्रहण' की उत्थानिका के साथ हुआ है।
(ख) समूचे नाटक में कार्तिक शुक्ल पक्ष का निरूपण है—
(१) आरम्भ—प्रतिपदा : **"सन्ध्यारुणामिव शशलाञ्छनस्य"**
(२) मध्य—देव प्रबोधिनी एकादशी : **"निद्राच्छेदाभिताभ्रा चिरमवतुहरेः..."**
(३) अन्त—पूर्णिमा तिथि : **"शोभनः तिथिः सम्पूर्णचन्द्रा पौर्णमासी।"**
(ग) उस समय सूर्य और केतु तुला राशि में थे—**"क्रूर ग्रहः सकेतुः।"** और चन्द्रमा एवं राहु मेष राशि में थे।

ज्यौतिष शास्त्र का नियम है कि राहु, केतु से सातवें भाव में रहता है और पूर्णिमा को चन्द्रमा, सूर्य्य से सातवें स्थान पर रहता है। इस ख-गोलिक नियम को हृदयङ्गम कर के जब पाँचवी शती के चन्द्रग्रहणों का शोध करते हैं तो मालव-विक्रम-संवत् के ४०२, ४२०, ४३८, ४५६, ४७४, ४९२ तथा ५१०—इन वर्षों में कार्तिक शुक्ल-पूर्णिमा को खण्ड-ग्रास, पूर्ण-ग्रास या ग्रहणाभास हुए होंगे। इन वर्षों में कार्त्तिक कृष्ण अमावस्या को सूर्य-ग्रहण का घटना भी सम्भव है। किन्तु हमारा लक्ष्य केवल 'चन्द्रग्रहण' है। जरा रुक कर विचार करना होगा कि इन वर्षो में से कौन-सा वर्ष प्रस्तावित प्रसङ्ग के अनुरूप पड़ता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मालव-विक्रम-संवत् के ४०२वाँ तथा ४३८ वाँ वर्ष हमारी सीमा से बाहर ठहरते है। ४०२ ४३८ के — में किन्ही अन्य वर्षों में चन्द्र-ग्रहण, कम-से-कम कार्तिक पूर्णिमा को नहीं पड़ते। निष्कर्षतः

मा० वि० सवत का ४२० वष ही ऐसा वष है जब वध विवाह-काण्ड के अस्तित्व की सम्भावन पर विचार किया जा सकता है। तदनुसार--

(क) ४२० में चन्द्रग्रहण की सम्भावना, (ख) ४२१वें वर्ष में वध-विवाह काण्ड, (ग) ४२२वें वर्ष में नये संवत् की स्थापना।

हम घूम फिर कर आइने-अकबरी की अनुश्रुति के घेरे में जा खड़े हैं। अतः गुप्त-संवत् के ५६वें वर्ष में चन्द्रगुप्त का नया संवत् चलाना भी अर्थ-पूर्ण निकला। अब उसकी असफलता भी रहस्यमय नहीं रह गई है। भाई को मारना और भाभी से विवाह करना—ये काम चन्द्रगुप्त की लोक-प्रियता को क्षति पहुँचाये बिना न रहे होंगे। यदि अलबेरूनी गुप्तों को क्रूर लिखता है तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। निष्कर्ष यह कि मा० वि० संवत् के ४२०वें वर्ष में गुप्त-संवत् का ५६वाँ वर्ष तथा द्वितीय चन्द्रगुप्त के नये चलाये संवत् का पहला वर्ष तभी युक्तियुक्त एव मान्य हो सकते हैं, जब गुप्त-संवत् की स्थापना साहसाङ्क संवत् के २४२ वर्ष पश्चात् (३०७ ईसवी) स्थिर की जाय, अन्यथा नहीं।

(५) हमारी इस गुप्त-संवत् सम्बन्धी स्थापना को ईसवी सन् का ४३६वाँ वर्ष तो इतना अधिक जकड़ देता है कि न एक तिल आगे बढ़ने देता है और न एक तिल पीछे हटने देता है। इस वर्ष में निम्नलिखित दो प्रशस्तियाँ उत्कीर्ण हुई—

(क) एक प्रशस्ति गुप्त-संवत् १२९ की है—"**संवत् १००+२०+९ महाराज श्री कुमारगुप्त राज्ये...**"

(ख) दूसरी प्रशस्ति मालव-संवत् ४९३ की है: "**मालवानां गणस्थित्या याते शत-चतुष्टये। त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्य घनस्वने।**"

सौभाग्य से या संयोग से दोनों प्रशस्तियों का एक ही साल है—४३६ ईसवी और संवत्सर नाम है—'विरोधी'। यदि अलबेरूनी की बात मान ली जाय और गुप्त-सवत् को यथावत् (३१९ ई०) रहने दिया जाय तो स्कन्दगुप्त की एक प्रशस्ति (४४३ ई०) नीचे की ओर सरक जाती है; उस समय स्कन्दगुप्त के स्थान पर कुमारगुप्त के दर्शन होने लगेंगे। इस अवस्था में कुमारगुप्त की १२९ वर्ष की प्रशस्ति मालव-विक्रम-संवत् ५०५ तक (४४८ ई०) ताल-मेल रखने लगेगी और इधर मालव-विक्रम-संवत् ४९३ की प्रशस्ति ऊर्ध्ववर्ती हो जायगी। तथाकथित दोनों प्रशस्तियों को सम-रेखा या सरल रेखा पर तभी रखा जा सकता है, जब गुप्त-संवत् को अलबेरूनी मत से जरा ऊपर उठाया जाय और उसमें १२ वर्षों का संशोधन किया जाय।

(६) अब हम एक ऐसे तर्क का अवलम्बन लेंगे, जो ऊपर कथित सभी तथ्यों तथा तर्कों को प्राणवन्त कर देगा; यथा—

"**स्वराज्याभिवृद्धिकरे वैजयिके संवत्सरे त्रयोदशमे श्रावलबहुलस्य दशमी पूर्वकम्।**"

इसमें 'विजय' शब्द बड़े महत्व का है। सर भण्डारकर ने इसे शक-संवतीय उद्धरणों में गिना, जिसे हम अशुद्ध मान रहे है। हम पाठकों को पुनः स्मरण कराना चाहते हैं कि प्रभव-विभव आदि साठ संवत्सर होते है अलबरूनी ने इनका पूरा चित्र दिया है ये साठ अपना एक

चक्र पूरा करने के बाद दूसरा तीसरा चक्र पूरा करते हैं कौन सा संवत किस संवत्सर से शुरू होता है, यह भी पीछे लिख आये है। इस समस्त प्रक्रिया को हृदयङ्गम करके जब 'विजय' संवत्सर और १३वाँ वर्ष विचार-कसौटी पर लाते हैं तो सारे रहस्य स्वयमेव खुल जाते हैं। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि हम गुप्त-संवत् का आरम्भ 'वृष' नामक संवत्सर से लिख आये है और संवत्-सारिणी में देख भी आये हैं। तदनुसार गिनती करने पर—१ वृष, २ चित्रभानु, ३ सुभानु, ४ तारण, ५ पार्थिव, ६ व्यय, ७ सर्वजित्, ८ सर्वधारी, ९ विरोधी, १० विकृत, ११ खर, १२ नन्दन और १३ विजय; १३वाँ वर्ष विजय ही देखते हैं, अन्य नहीं। सम्भव है, हमारे विद्वान् पाठक इस गणना को ठुकरा दें पर आयें जरा इन सब की परीक्षा करके देखें।

(क) प्रथम शक-संवत् का आरम्भ 'कालयुक्त' संवत्सर से हुआ था। यह संवत् वही है, जिसका उल्लेख वराहमिहिर ने किया है और जो २४८६ कलि-संवत्, तदनुसार ६१५ ई० पूर्व से चला आ रहा है। जब उक्त पंक्ति को परखने के लिए कालयुक्त से गणना आरम्भ करते है—१ कालयुक्त, २ सिद्धार्थ, ३ रौद्र, ४ दुर्मति, ५ दुन्दुभि, ६ रुधिरोद्गारी, ७ रक्ताक्ष, ८ क्रोधन, ९ क्षय, १० प्रभव, ११ विभव, १२ शुक्ल और १३ प्रमोद; तो यहाँ भी १३वें वर्ष पर विजय संवत्सर को नहीं देखते। उक्त पंक्ति का अर्थ यहाँ प्रथम शक-संवत् के साथ भी सूत नहीं बैठता, यह निश्चय हुआ।

(ख) हो सकता है, उक्त पंक्ति का अर्थ मालव-विक्रम-संवत् के साथ सङ्गत बैठ जाय। जरा इसे देख लें। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि मा० वि० संवत् को 'शकघ्न' काल भी कहते हैं। हम इसे शक-संवत् मान लेते हैं और विचार करते हैं। इस संवत् का आरम्भ हमारे विचार में 'धाता' नामक संवत्सर से हुआ था, दूसरों के मत में 'ईश्वर' नामक संवत्सर से। हम यहीं से गणना आरम्भ करते हैं—१ ईश्वर, २ बहुधान्य, ३ प्रमाथी, ४ विक्रम, ५ वृष, ६ चित्रभानु, ७ सुभानु, ८ तारण ९ पार्थिव, १० व्यय, ११ सर्वजित्, १२ सर्वधारी, १३ विरोधी; कहाँ विजय और कहाँ विरोधी? कोई मेल है इनमें? इसे भी अपनी गणना-परिधि से बाहर रखना होगा। पञ्जाब के विश्रुत रिसर्चस्कालर श्रीभगवद्दत्त इस गणना पर जरा गम्भीर दृष्टि डालेंगे, क्योंकि वे प्रसिद्ध मालव विक्रमादित्य को चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य से अभिन्न मानने के लिए बुरी तरह डटे हुए हैं।

(ग) विक्रमादित्य शालिवाहन द्वारा स्थापित विक्रमशकाब्द भी इस गणना-परिधि मे नहीं आता। उसका आरम्भ 'पराभव' नामक संवत्सर से, सर्वसम्मत है। 'धाता' से 'पराभव' तक ३० अङ्क होते हैं; अतः इनमें ६०+३०=९० नब्बे वर्षो का पार्थक्य इस प्रकार बताया जाता है मालव संवत् में और शालिवाहन संवत् में। "विक्रम साक आनंद" रासो की उक्ति इसी पर चरितार्थ होती है। पराभव से गिनते-गिनते—१ पराभव, २ प्लवंग, ३ कीलक, ४ सौम्य, ५ साधारण, ६ विरोधकृत्, ७ परिधावी, ८ प्रमादी, ९ आनन्द, १० राक्षस, ११ नल, १२ पिङ्गल और १३ कालयुक्त—यहाँ भी बड़े दूर चले गये, इससे भी हमारा उद्देश्य पूरा न हुआ।

(घ) साहसाङ्क-संवत् को भी देख लिया जाय। इसका पक्ष भी बड़ा बलवान् है। कारण, सर भण्डारकर की संगृहीत संवत-सूची में से अधिकांश उद्धरण साहसाङ्क शक-संवत् के अनुसार हैं विक्रमाङ्क शक-संवत् के अनुसार नहीं और उक्त संवत्-सूत्र को उसी मे

गिना है। हमने 'प्रमाथी' संवत्सर से इसकी शुरुआत मानी है। गिनें प्रमाथी से—१ प्रमाथी, २ विक्रम, ३ वृक्ष, ४ चित्रभानु, ५ तारण, ६ सुभानु, ७ पार्थिव, ८ व्यय, ९ सर्वजित्, १० सर्वधारी, ११ विरोधी, १२ विकृत और १३ खर; यहाँ भी काम बनता नजर नहीं आता। छोड़ें इसे।

(ङ) प्रचलित शक-संवत् के विषय में बड़ा उग्र विवाद है। सभी गणक इसे कलि-संवत् ३१७९ से आरम्भ मानते हैं—

(१) **कलेर्नवाग्नैकगुणाः शकाब्धेः। ३१७९।**

(२) **कलेर्गोवगैकगुणाः शकान्तेऽब्दाः। ३१७९।**

(३) **याता कलेर्नवनगेन्दुगुणाः शकान्ते। ३१७९।**

(४) **नन्दाद्रीन्दुगुणाः शक नृपस्यान्ते कलेर्वत्सराः। ३१७९।**

और प्रसिद्ध मालव-विक्रम-संवत् कलि-संवत्, ३०४४ से आरम्भ हुआ सभी शास्त्र मानते हैं। अर्थात् प्रसिद्ध शक-संवत्—जिसे हमने नया नाम दिया है, विक्रमाङ्क शक-संवत्—मा० वि० संवत् के १३५ वर्ष पश्चात् स्थिर होता है; यथा—३०४४ + १३५ = ३१७९ कलि-संवत्। यह 'नन्दन' नामक संवत्सर से आरम्भ हुआ था। अलबेरूनी के समय तक साहसाङ्क शक-संवत् लोगों की स्मृति पटल से लुप्त हो चुका था और रह गया था—विक्रमाङ्क शक-संवत्। उत्तरवर्ती सभी गणनाएँ 'शक नृपकालातीत' इस विशेषण से युक्त होने से साहसाङ्क-शक-संवत् से हट कर विक्रमाङ्क-शक-संवत् के नाम से जानी-पहचानी जाती थीं, उसका सम्बन्ध उससे हो या न हो। सर भण्डारकर की सूची हमें प्रेरणा देती हैं कि इस उक्ति का सम्बन्ध तथाकथित शक-संवत् से है, क्यों न इसे भी परखा जाय? लो इसे भी लो। १ नन्दन, २ विजय, ३ जय, ४मन्मथ, ५ दुर्मुख, ६ हेमलम्ब, ७ विलम्ब, ८ विकारी, ९ शर्वरी, १० प्लव, ११ शुभकृत्, १२ शोभन और १३ क्रोधी। आलोच्य पंक्ति में 'विजय' शब्द गुप्त-संवत् के लिये सबसे बड़ी शक्ति सिद्ध हो रहा है। प्रस्तावित गुप्त-संवत् को 'वृष' संवत्सर गिनने की चर्चा पिछले पृष्ठों पर देख आये हैं। अतः १३ वर्षों की गणना में हमारी पर-सीमा 'वृष' है तो अवर-सीमा 'विजय'। ये सीमाएँ अखण्डनीय, अभेद्य और अनुलङ्घनीय हैं।

(च) रह जाता है अलबेरूनी का प्रस्तावित गुप्त-संवत्। हो सकता है, शक-संवत् के २४१ वर्ष पीछे चलने वाले गुप्त-संवत् का १३वाँ वर्ष 'विजय' संवत्सर हो! जब तक इस कल्पना को जड़-मूल से उखाड़ कर न फेंका जायगा, तब तक गुप्त-संवत् की नवीन मान्यता ग्राह्य न हो सकेगी। शक-संवत् 'नन्दन' वर्ष से आरम्भ हुआ था। गणना करने पर, ६० × ७ = ४२०वाँ वर्ष 'खर' संवत्सर आता है, 'खर' से गणना करने पर १३वाँ वर्ष शोभन आता है, 'विजय' नहीं। 'विजय' तो उसका दूसरा संवत्सर है; दूसरे संवत्सर को १३वाँ स्थान देना गणित-विज्ञान को मुँह चिढ़ाना है।

अतः **'स्वराज्याभिवृद्धिकरे वैजयिके संवत्सरे'** इसी अकेली पंक्ति ने नाना संवत्-गणनाओं को परास्त कर, सर्वथा कल्पित गुप्त-संवत् को ध्वस्त कर, वास्तविक गुप्त-संवत् को सब से ऊँचा उभार कर दिखा दिया है।

(६) हम यहाँ एक बात और लिखने लगे हैं। वह यह कि गुप्त-वंश कौन से वर्ग का है? ...रूरी है 'गुप्त' शब्द को देखकर लोग इन्हें वैश्य समझें या क्षत्रिय! पर यह वंश शुद्ध ब्राह्मण-...श है, जिसका समर्थन प्रभावती गुप्ता के लेख से हो जाता है

**श्री चन्द्रगुप्त ॥ तस्य सत्पुत्र लिच्छवि दौहित्र श्री समुद्रगुप्त । तत्पुत्रः परमभागवतो महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तः। तस्य दुहिता कुबेरनागायामुत्पन्ना वाकाटकानां महाराज श्रीरुद्रसेनस्याग्रमहिषी . . .।"**

प्रभावती अपने आपको ब्राह्मण पुत्रवधू (वाकाटक) एवं नागकन्या—उभयकुलालङ्कार लिखती है। बहुत सम्भव है, साहसाङ्क-विक्रमादित्य के वंशधर गुप्तान्वयी पुनः उभरे हों और उनके इस पतन-उत्थान में २४२ वर्ष का पार्थक्य हो, जो जनश्रुति में जीवन्त रहकर विक्रमाङ्क शक-संवत् से जा टकराया हो। जो हो, विक्रमादित्य साहसाङ्क के साथ गुप्तान्वय का कोई रक्त सम्बन्ध प्रकट हो जाय तो इसमें आश्चर्य नहीं होगा। फिलहाल जनश्रुति एवं अनुमान का तकाजा है कि हम उक्त धारणा पर अटल रहें।

निष्कर्ष यह कि—**शालिवाहन के पौत्र साहसाङ्क-विक्रमादित्य के नाम से चल रहे शक संवत् के २४२ वर्ष पश्चात् गुप्त-संवत् चला, जो निम्न तथ्यों तथा तर्कों से सर्वथा पुष्ट एवं सुसिद्ध है।**

(१) साहसाङ्क-विक्रम-शक-संवत्सरों में से केवल साहसाङ्क शक संवत् के २४२ वर्ष पश्चात् गुप्त-संवत् चला, विक्रम-शक-संवत् से नहीं।

(२) गुप्त-संवत् की स्थापना इसवी ३०७ एवं मालव-विक्रम-संवत् ३६४ से गणना सिद्ध है; गुप्त-संवत् को ईसवी सन् में परिणत करने के लिए उसमें ३०७ अङ्क जमा करने से अभीष्ट सिद्धि हो जायगी; यथा—भानुगुप्त का एरणस्तम्भ का लेख गुप्त संवत १९१ + ईसवी ३०७= ४९८ बना।

(३) गुप्त-संवत् का स्थापक प्रथम चन्द्रगुप्त है, द्वितीय चन्द्रगुप्त नहीं। हालाँकि उसने अलौकिक-कार्य करके ख्याति अर्जित की; परन्तु अन्य संवत् चलाकर भी उसे सफल न बना सका। चन्द्रगुप्त-द्वितीय ने मालव-विक्रम-संवत् ४२० में ध्रुवदेवी से विवाह किया था; प्रसङ्गवश इससे विशाखदत्त का समय भी निश्चित हो गया।

(४) संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य और आदित्य पोंवार (चन्द्रगुप्त) के मध्य ४२२ वर्ष के पार्थक्य वाली आइने-अकबरी की तुक तिल-तिल मिल जाती है। बड़े आश्चर्य की बात है कि एक अनुश्रुति विस्मयकारक तकनीकी सत्य में परिणत हो गई है।

(५) मालव-संवत् ४९३ में दो-दो प्रशस्तियों का लिखा जाना अर्थपूर्ण है।

(६) गुप्त-संवत् को 'वृष' संवत्सर की पर-सीमा देकर स्वयं अवर-सीमा बनकर आनेवाली 'वैजयिके संवत्सरे' पंक्ति असंदिग्ध शब्दों में गुप्त-संवत् को निश्चित, पृथक् एवं गणनासिद्ध रूप देती है।

(७) अलबेरूनी का कथन किसी सीमा तक ही ग्राह्य है, सर्वथा नहीं।

**अर्थात् अलबेरूनी, आइने-अकबरी, चन्द्रग्रहण, मन्दसोर की प्रशस्ति तथा भण्डारकर की प्रस्तावित पंक्ति—सब मिलकर गुप्त-संवत् को निश्चित परिधि देते हैं और उसे वैज्ञानिक रूप देते हैं।** इसके अनुसार गुप्तों का इतिहास इस प्रकार होना चाहिय

| नाम | प्रचलित ईसवी सन | संशोधित ई० सन् |
|---|---|---|
| श्रीगुप्त घटोत्कच | — | २७४—३०६ |
| चन्द्रगुप्त प्रथम | — | ३०७—३२२ |
| समुद्रगुप्त[२२] | ३२८—३७८ | ३२३—३६२ |
| चन्द्रगुप्त द्वितीय | ३७८—४१४ | ३६३—४०० |
| कुमारगुप्त प्रथम | ४१४—४५५ | ४०१—४३६ |
| स्कन्दगुप्त | ४५५—४६७ | ४३६—४५४ |
| पुरगुप्त | — | ४५४ |
| नृसिंह गुप्त | — | — |
| कुमारगुप्त द्वितीय | — | ४६१—४६४ |
| बुधगुप्त | — | ४६४—४९२ |
| वैन्यगुप्त | — | ४९३—४९५ |
| भानुगुप्त | — | ४९५—५१३ |
| दामोदरगुप्त | — | —५३१ |

इस प्रकार संशोधित गुप्तवंशावली गुप्त-संवत् के नये वर्ष १६५५ में इतिहासकारों की सेवा में सादर निवेदित है।

## तृतीय भाग

अवसर मिलने पर उन मतों का निराकरण भी अनिवार्य हो जाता है, जो गुप्त-संवत् को सन्दिग्ध बनाने में सक्रिय है। इनमें से कुछ मत ऐसे हैं, जो निराधार एवं कल्पित नींवों को अपनाने का आग्रह करते हैं; और कुछ मत ऐसे हैं जो मिथ्या फलितार्थों को पुनः-पुनः सत्य घोषित करते हैं। इस प्रसङ्ग में हम केवल दो व्यक्तियों के विचारों पर विचार करना पसन्द करेंगे। वे हैं—पटना विश्वविद्यालय के रीडर डाक्टर वासुदेव उपाध्याय तथा पञ्जाब के विश्रुत रिसर्च-स्कालर श्रीभगवद्दत्त। इनके विचारों को जानने-पहचानने से पूर्व बल्लभी-भङ्ग पर विचार करना सामयिक रहेगा, ताकि भ्रान्तियों का एक साथ विध्वंस हो सके।

अलबरूनी ने वल्लभी-भङ्ग तथा गुप्त-संवत् में ऐक्य दिखाकर बड़ी भारी भ्रान्ति फैला दी है। अब तक यह पता नहीं चला कि अलबेरूनी-मत का आधार क्या है? इस प्रसङ्ग में एक श्लोक उद्धृत किया जाता है—

विक्रमादित्य भूपालात् पञ्चर्षित्रिकवत्सरे।
जातोऽयं वल्लभी भङ्गः ज्ञानिनः प्रथमं ययुः॥

यहाँ सवाल पैदा होता है कि उक्त श्लोक अलबेरूनी से पूर्ववर्ती है या अधोवर्ती। यदि श्लोक अधोवर्ती है तो यह अलबेरूनी का सटिप्पण अनुवाद है, इससे अधिक कुछ नहीं यदि यह उससे

पूर्ववर्ती है तो इस पर विचार किया जा सकता है। ज्यूँ ही हमने गुप्त-संवत् में बारह वर्षों का सुधार किया कि अलबेरूनी-मत तथा उस पर अवलम्बित अन्य मत स्वतः कच्चे पड़ जाते हैं; पर उस अवस्था में उक्त श्लोक का युक्ति-सङ्गत अन्वय लगाये बिना काम न चलेगा। इस प्रसङ्ग मे जैन मुनियों के अभिमतों पर अधिक भरोसा करना भी निरापद नहीं है। एक पक्ष का दावा है कि विक्रमादित्य के ३७५वें वर्ष में वल्लभी-भङ्ग[२४] हुआ, दूसरे पक्ष का कथन है कि विक्रमादित्य के ८४५वें वर्ष में वल्लभी-भङ्ग हुआ।[२५] इस विसङ्गति में किस की बात मानी जाय? हम जानते है, विक्रमादित्य शालिवाहन से पूर्व अन्य कोई विक्रमादित्य नहीं है। परन्तु प्रसिद्धि के रूप मे साहसाङ्क विक्रमादित्य का नाम अधिक लिया जाता है। अपना अनुमान है, इसी साहसाङ्क विक्रमादित्य के ३७५ वर्ष बाद अर्थात् १३३ गुप्त-संवत् एवं ईसवी ४४० में वल्लभी-भङ्ग सम्भव है, इससे पूर्व नहीं।

श्री भगवद्दत जी राष्ट्रकूट गोविन्द गुप्त द्वारा ७३० शककाल के उल्लेख की बात करते है, अपना अनुमान है कि यह प्राचीन शक है जो ईसा से ६१५ वर्ष पूर्व चला था और शककाल ७३०—६१५, ११५ ईसवी के लगभग है। अतः वल्लभी-संवत् या वल्लभी भङ्ग के प्रसङ्ग मे उस पर दूसरी दृष्टि से विचार करना युक्त होगा।

## डॉ० वासुदेव उपाध्याय का अभिमत

डॉ० उपाध्याय ने अभी-अभी एक 'प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन' पुस्तक प्रकाशित कराई है, जिसके पृष्ठ २२१–२३१ पर गुप्त-संवत् पर सटीक तर्क अङ्कित हैं। उनके विचारों का मुख्य आधार है—अलबेरूनी; जिस पर हम आवश्यकता से अधिक बल देकर टीका-टिप्पणी कर आये हैं। दूसरे, डाक्टर उपाध्याय ने अपनी कल्पना के सहारे वराहमिहिर-प्रतिपादित शक-संवत् के साथ-साथ गुप्त-संवत् की तालिका उपस्थित की है, तथा जैन-मुनियों की प्रसिद्धतम अनुश्रुतियों का मुलम्मा चढाकर उसे चमकाकर सत्य सिद्ध करने का यत्न किया है। अपनी निश्चित धारणा है, ये दोनों आधार बालू की भीत सिद्ध होंगे। डॉ० उपाध्याय यदि श्रम करके वराहमिहिर का समय कूत लेते तो सम्भवतः इतनी ओछी भूल भी न करते। वराहमिहिर का समय है युधिष्ठिर-संवत् का ३०४२वाँ वर्ष जो ठीक ईसा से १०० वर्ष पूर्व है। कहाँ ईसा से १०० वर्ष पूर्व के व्यक्ति की शक-गणना और कहाँ ३१९ ई० (उन्हीं के मत में) का गुप्त-संवत्?—क्या इनमें कभी तालमेल सम्भव हो सकता है? पर डॉ० उपाध्याय ने ऐसा करके दिखा दिया है। वराहमिहिर का अपना समय है :—

**स्वस्ति श्रीनृप सूनुज शके शाके द्विवेदाम्बर–**
**त्रै मानाब्दमिते त्वने हसि जये वर्षे वसन्तादिके।**

इसमें 'जय वर्ष' बड़ा महत्त्वपूर्ण सङ्केत है। हम पिछली पंक्तियों में स्यात् कहीं लिख आये है कि युधिष्ठिर-संवत् ४० कलि-पूर्व है। इसके अनुसार वराहमिहिर को कलि-संवत् ३००२ मे विद्यमान होना चाहिये। यह तो स्थान-स्थान पर लिख आये हैं कि 'मालव-विक्रम-संवत्' कलि-सवत् ३०४५ ईश्वर' नामक से प्रचारित हुआ युधिष्ठिर-सवत कलि-सवत्

| वीर-निर्माण | शक-संवत् | गुप्त-संवत् | ईसवी |
|---|---|---|---|
| १ | — | — | — |
| ६०६ | १ | — | ७९ |
| ७०६ | १०१ | — | १७९ (१००) |
| ८०६ | २०१ | — | २७९ (१००) |
| ८३६ | २३१ | — | ३०९ ( ३०) |
| ८४६ | २४१ | १ | ३१९ ( १०) |
| ९४६ | ३४१ | १०१ | ४१९ (१००) |
| १००० | ३९५ | १५५ | ४७३ ( ५४) |

जैन-कल्पना के अनुसार कल्कि-जन्म तक गुप्त-संवत् के २३१ वर्ष बीत जाने चाहिये थे, परन्तु अभी उसमें ७६ वर्ष शेष हैं। इसमें शक-गणना पर विचार करना इसलिए जटिल है कि चार-चार शक-गणनाओं में जैन-मुनियों को कौनसी शक-गणना इष्ट है, इनका पता लगाने के लिए द्रविड़-प्राणायाम की आवश्यकता पड़ेगी।

निष्कर्ष यह कि डॉ० उपाध्याय 'गुप्त-संवत्' को जो आधार देना चाह रहे हैं, वह सर्वथा अवैज्ञानिक, निरा काल्पनिक तथा इतना बेतुका है कि उस पर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता।

## श्री भगवद्दत्त का अभिमत

पञ्जाब के महान् अन्वेषक श्री भगवद्दत्त जी 'विक्रमादित्यों' के चक्कर में बुरी तरह फंस गये हैं। इतिहास में 'विक्रमादित्यों' का कोई अन्त नहीं। कुछ असली विक्रमादित्य हैं और जैन-मुनियों की कृपा से कुछ नकली विक्रमादित्य भी खड़े हो गये है। बहुतों को छोड़ भी दिया जाय, तो भी असली-नकली चार 'विक्रमादित्य' तो बहुत ही प्रसिद्ध हैं। यथा—

| | मौलिक नाम | विरुद | अन्य विरुद | राजधानी | संवत् | ईसवी |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १. | मालवेश्वर | विक्रमादित्य | शकारि | उज्जयिनी | १ | ५७ ई० पू० |
| २. | शालिवाहन | विक्रमादित्य | शाक | उज्जयिनी | १ | ३३ ई० पू० |
| ३. | साहसाङ्क | विक्रमादित्य | शकान्तक | उज्जयिनी | १ | ६५ ई० |
| ४. | चन्द्रगुप्त | विक्रमादित्य | विक्रमाङ्क | (उज्जयिनी?) | १ | ३६३ ई० |

इनके अतिरिक्त हर्ष-विक्रमादित्य, विषमशील-विक्रमादित्य, प्रतापशील-विक्रमादित्य—अनेकों विक्रमादित्य हैं, जिन्हें हम नहीं ले रहे। यहाँ उन-उन विक्रमादित्यों को लिया है, जिनके नाम से संवत् चले। इनका परिचय इस प्रकार है:—

(१) **मालवेश्वर विक्रमादित्य**—यह बड़े प्रसिद्ध संवत्-प्रवर्तक हैं। परन्तु ये नकली विक्रमादित्य हैं इन पर जैन-मुनियों की कृपादृष्टि जरा गहरी पड़ी है। इनका संवत पहले पहल तो मालव-संवत् नाम से विख्यात हुआ बाद में उसका 'कृत' नाम पड़ा और नौवीं शती के

बाद उसका नाम 'विक्रम-संवत' पड़ा ये शकारि जरूर है इनक का खण्डन करने के लिए कल्हण को साहस करना पड़ा

शकारिः विक्रमादित्यः इति स भ्रमसाधितैः।
अन्यैरत्रान्यथाऽलेखि विसंवादि कदर्थितम् ॥

और अब हम भी इन्हें मालव-विक्रमादित्य मान लेते हैं।

(२) **शालिवाहन विक्रमादित्य**---अपनी दृष्टि में ये प्रथम विक्रमादित्य हैं। इनके भाई या सन्तान---प्रतापादित्य---को काश्मीर नरेश स्थापित किया गया था। इनके संवत्-स्थापन पर एक पौराणिक उक्ति है---"**युधिष्ठिरो विक्रमशालिवाहनौ**"। इनके संवत् का नाम 'विक्रमशाकाब्द' है जिसकी चर्चा 'द्वितीय शक' के प्रकरण में उठा चुके हैं।

(३) **साहसाङ्क विक्रमादित्य**---ये कालिदास के आश्रयदाता, 'विक्रमाङ्क' के ज्येष्ठ-भ्राता एवं शकान्तक विक्रमादित्य प्रसिद्ध हैं। इनके बारे में क्षीरस्वामी का कथन है---

"द्रौपदी विक्रमादित्यः साहसाङ्कः शकान्तकः"

इनके संवत् का नाम 'शकनृपकालातीत' नाम से विख्यात है। शालिवाहन के पौत्र के नाते इन्हें शक-राज भी कहा जाता है? इन पंक्तियों में पहली बार इनके संवत् की खुलकर चर्चा उठाई गई है।

(४) **चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य**---इन पर सारे निबन्ध मे पर्याप्त लिखा जा चुका है। हमारे मान्य रिसर्च-स्कालर महाशय भगवद्दत्त जी इन अनेक विक्रमादित्यों को मिटाकर दो कर देना चाहते हैं। इनके मत में मालव-विक्रमादित्य, शूद्रक-विक्रमादित्य, हर्ष-विक्रमादित्य तथा विषमशील विक्रमादित्य---सब अभिन्न हैं, एक व्यक्ति के अनेक नाम हैं; और चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य और साहसाङ्क-विक्रमादित्य को दो नहीं मानते। इनकी मान्यतानुसार---

(क) शूद्रक-हर्ष-विषमशील-विक्रमादित्य का समय २६४५ कलि-संवत् है।

(ख) चन्द्रगुप्त-साहसाङ्क-विक्रमादित्य का समय ३०४५ कलि-संवत् है।

एक का समय ४५७ ईसा-पूर्व है तथा दूसरे का समय ५७ ईसा-पूर्व। परन्तु गुप्त-संवत् की व्यावहारिकता के प्रश्न पर इनका मौन अर्थ-शून्य नहीं है। ये अपनी कठिनाई को नहीं जानते---सो बात नहीं; पर सब कुछ समझते हुए भी अपने हठ पर डटे रहने का उनका जन्मसिद्ध स्वभाव है। लीजिए एक उदाहरण ---

एक ओर महान् रिसर्च-स्कालर ने शूद्रक, अग्निमित्र, हर्ष, विषमशील और इन्द्राणी गुप्त को अभिन्न मान कर, उसका समय दिया है ---

"बाणाब्धि गुण दस्रोनाः शूद्रकाब्दाः कलेर्गताः।"

अर्थात् शूद्रक-समय तक कलि-संवत् के २३४५ वर्ष बीत चुके थे, (परन्तु मान्य महोदय ने अर्थ किया है २६४५ कलि-संवत[२७]) और उनका सभाकवि कालिदास अपने ——— 'अग्निमित्र' को नाटक मे स्मरण करता है [२८] दूसरी ओर वही कालिदास साहसाङ्क ८

(जो चन्द्रगुप्त से भिन्न नहीं) का सभाकवि भी है।[२९] मजे की बात यह कि चन्द्रगुप्त का पिता महाराजा समुद्रगुप्त अपने काव्य में अपने पूर्ववर्ती कवियों में कालिदास को स्मरण करता है।[३०] हम जानते है कि विक्रमाङ्क और साहसाङ्क नामक दो भाइयों के आश्रय में कालिदास रहा। पहले वह विक्रमाङ्क[३१] के यहाँ था, बाद में साहसाङ्क के यहाँ चला गया।[३२] हमें छोड़िये। महान् रिसर्च-स्कालर कालिदास को कहाँ खड़ा करते हैं—५४७ ईसा पूर्व या ५७ ईसा पूर्व समय में, कहाँ उसके लिए स्थान बनाते हैं? ४०० वर्षों की पृथक्ता को पटा सकना श्री भगवद्दत्त जी के वस का नहीं है।

श्री भगवद्दत्त जी निम्नलिखित श्लोक का जो अर्थ प्रस्तुत कर रहे हैं, वह भी कम चिन्ता का विषय नहीं है; यथा—

**मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।**
**त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्य घनस्वने।**
**सहस्य मास शुक्लस्य प्रशस्तेऽह्नि त्रयोदशे।**
**मंगलाचारविधिना प्रासादोऽयं निवेशितः।**
**बहुना समतीतेन कालेनान्यैश्च पार्थिवैः।**
**व्यशीर्यतैकदेशोऽस्य भवनस्य ततोऽधुना।**
**वत्सरशतेषु पञ्चसु विंशत्यधिकेषु नवसु चाब्देषु।**
**यातेष्वभिरम्य तपस्य मास शुक्ल द्वितीयायाम्।**

अर्थात्—**"मालव संवत् ४९३ में यह प्रासाद बना। अब बहुत काल व्यतीत होने पर और अन्य राजाओं के भी चले जाने पर इस भवन का एक देश खण्डित हुआ। ५२९ वर्ष बीतने पर इसका जीर्णोद्धार किया गया है।"**

मान्य विद्वान् भगवद्दत्त जी ने इसका अर्थ इस प्रकार दिया है—**"विक्रम संवत् का प्रारम्भकर्त्ता चन्द्रगुप्त-विक्रमाङ्क-साहसाङ्क अथवा समुद्रगुप्त-विक्रमाङ्क था। उससे ९३ वर्ष पश्चात् कुमारगुप्त के समकालिक का पुत्र राज्य कर रहा था। कुमारगुप्त का राज्य उससे लगभग २० वर्ष पहले होगा, अर्थात् विक्रम संवत् ७३ में। उससे भी ५२९ वर्ष बीतने पर, अर्थात् ५२९+९३=संवत् ६२२ में इस भवन का जीर्णोद्धार हुआ। इस सङ्गति के बिना इस शिलालेख का दूसरा अर्थ लग नहीं सकता। गत ५० वर्ष में इसका कोई सङ्गत अर्थ नहीं किया गया। —भारतवर्ष का बृहद् इतिहास : द्वितीय भाग, पृष्ठ २०४, पंक्ति १४–१८।**

निश्चयपूर्वक इसे 'कूट' समझकर अर्थ करने का यत्न किया गया है। इसका अर्थ कैसे किया जाय, हमें इसमें कोई रुचि नहीं; चूँकि इसके अर्थ या अनर्थ का प्रभाव गुप्त-वंश पर पड़ता है और यह अर्थ परोक्षरूप से गुप्त-संवत् को प्रभावित करता है, अतः न चाहने पर भी हमें इस श्लोक का अर्थ करना पड़ रहा है। अपनी नम्र सम्मति के अनुसार इसके दो प्रकार के अर्थ सम्भव है, यथा—

**(क) पहला अर्थ**—इस भवन का जो आज से ५२९ वर्ष-पूर्व (अर्थात् ३६ मालव विक्रम पूर्व अथवा ९३ ईसा-पूर्व बना था बहुत समय बीत जाने पर तथा बहुत से राजाओं के

बीत जाने पर इसका एक भाग खण्डित हो गया है आज काल के ४९३ मे इसका विधि-पूवक जीर्णोद्धार किया गया है।

**(ख) दूसरा अर्थ**—इस भवन का, जो (शक-संवत्) ५२९ में बना था, बहुत समय बीत जाने पर तथा बहुत से राजाओं के हो जाने पर इसका एक भाग खण्डित हो गया है, आज मालव-गणस्थिति काल के ४९३ वें वर्ष में इसका विधिपूर्वक जीर्णोद्धार किया गया है।

इन दोनों अर्थों का ज्ञापक तिथि-चित्र इस प्रकार होगा—

| | दशा | १ शक-संवत् | कलि-संवत् | संवत्सर | मालव | ईसवी |
|---|---|---|---|---|---|---|
| (क) | भवन-निर्माण | ५२३ | ३००८ | शर्वरी | ३६ पू० | ९३ पू० |
| | जीर्णोद्धार | १०५२ | ३५३७ | विरोधी | ४९३ प० | ४३६ प० |
| (ख) | भवन-निर्माण | ५२९ | ३०१४ | पराभव | ३० पू० | ८३ पू० |
| | जीर्णोद्धार | १०५२ | ३५३७ | विरोधी | ४९३ प० | ४३६ प० |

यथा-विज्ञापित अर्थ करने का आधार यह है कि श्लोक में एक संख्या भवन-निर्माण बोधक और दूसरी संख्या भवन-जीर्णोद्धार बोधक; किस संख्या का अन्वय कहाँ लगाया जाय, यह व्यावहारिक मेधा पर निर्भर करता है। ४९३-५२९ इन संख्याओं में पौर्वापर्य क्रम देखकर फ्लीट आदि विद्वान् छोटी संख्या को निर्माण के साथ तथा बड़ी संख्या को जीर्णोद्धार के साथ अन्वित करने का निरर्थक प्रयास करते रहे हैं। श्री भगवद्दत्त जी ने इसके लिए जिस द्रविड़-प्राणायाम का आयास किया है, उसकी भी आवश्यकता न थी। अपनी राय में ४९३ की तिथि जीर्णोद्धार के लिए निश्चित है। दूसरी संख्या या तो भवन की आयु ज्ञापित करती है अथवा प्रथम शक-गणना को सूचित करती है। विक्रम-मालव-पूर्व प्रायः उल्लेखों में कलि-संवत् के अतिरिक्त शक-काल का अङ्कन है। इस प्रकार बिना किसी फेर-बदल के सरल अर्थ किया जा सकता है, इस पर विद्वान् विचार करें। दोनों गणनाओं में. ५२९ वर्ष-पूर्व या ५२९ शक-संवत् में कोई विशेष अन्तर नहीं। केवल छह साल की घटा-बढ़ी है, जो इतनी लम्बी अवधि में नामुमकिन नहीं। इस प्रकार के अर्थ से ही गुप्त-संवत् सुरक्षित रह सकता है।

# चतुर्थ-भाग

इतिहास में गुप्त-युग एक तरह से शिलालेखों का युग है। जितने शिलालेख, इसी प्रसङ्ग मे ताम्रपत्र आदि भी, इस युग ने लिखे-लिखाए हैं, इतने लेख सम्भवतः किसी अन्य युग के नहीं है। यही कारण है, गुप्त-युग अन्य युगों की अपेक्षा स्पष्ट, विश्वसनीय और क्रम-बद्ध है। परन्तु इसी युग के एक ऐसे शिलालेख को, जो अपनी गुप्तयुगीनता की घोषणा बड़े डङ्के के साथ कर रहा है, विद्वान् तथा इतिहासकार अपने विश्वास में लेने के लिये तैयार नहीं हैं। निस्सन्देह हमारा सङ्केत सम्राट् हर्षवर्धन के लिखाये 'शिलालेख' की ओर है। उक्त शिलालेख का प्रतिपाद्य कुछ और है हमारे इतिहासकारों के निर्णय कुछ-और हैं हर्षवर्धनीय शिलालेख का पाठ्य इस प्रकार है

**दूतकोऽत्र महाप्रमातार महासामन्त श्री स्कन्दगुप्त महाक्षपटलाधिकरणाधिकृतसामन्त महाराज भानुः. . .सामादेशादुत्कीर्णमीश्वरेणेदमिति। संवत् २०२ कार्तिक वदि १। स्वहस्तो मम महाराजाधिराज श्री हर्षस्य।—अ० भा० अभिलेखों का अध्ययन, पृ० ११३**

उक्त ग्रन्थ के लेखक डॉ० वासुदेव उपाध्याय ने अभिलेख में अत्यन्त स्पष्ट लिखे संवत् २०२ को हर्ष-संवत् का २२वाँ वर्ष मान लिया है और इसके समानान्तर पर ६२८ ई० भी लिख दिया है, जो अपनी नम्र दृष्टि से कदापि उचित नहीं है। यथा—

(क) महाराज चन्द्रगुप्त-प्रथम के बाद और शशाङ्क (गुप्त संवत् ३००) से पहले-पहले जितने उत्कीर्ण शिलालेख अथवा ताम्रपत्र मिले है, उनमें बहुधा गुप्त-संवत् का ही अङ्कन देखा गया है; बहुत कम ऐसे शिलालेख हैं, जिनमें मालव-संवत् अथवा साहसाङ्क शक-संवत् पाया गया है, और ऐसे शिलालेख तो अंगुलियों पर गिन लीजिये, जिनमे लेखक के निज का संवत् उत्कीर्ण है। परन्तु हर्ष-उट्टङ्कित संवत् २०२ को गुप्त-संवत् न मानकर हर्ष के निजी संवत् का २२वाँ वर्ष कैसे मान लिया गया है, इसका कोई आधार डॉ० उपाध्याय ने नहीं दिया। मान लिया, शून्य का अपना कोई मूल्य नहीं, पर क्या गणना में आ रहे 'शून्य' को भी बेकार मान लिया जाय? संवत् २०२ को मालव-संवत् नहीं माना जा सकता, क्योंकि हर्षवर्धन गुप्तों का ऊर्ध्ववर्ती नहीं है, वह शकों का निकटतम उत्तरवर्ती भी नहीं है,—अतः इसके साहसाङ्क शक-संवत् अथवा विक्रमाङ्क शक-संवत् मानने का सवाल ही पैदा नहीं होता। रहा गुप्त-संवत्, जो अधिक-से-अधिक विश्वसनीय होने पर भी इतिहासकारों को मान्य नहीं है। इस विसङ्गत दशा में कोई हर्षवर्धन के साथ न्याय करने के लिए आगे नहीं बढ़ रहा।

(ख) दूसरी बात—महाराज हर्षवर्धन के लिखाये शिलालेख में महाराज 'भानुगुप्त' निर्भ्रान्त उल्लेख है। अभिलेख में अङ्कित संवत् २०२ को 'गुप्त-संवत्' प्रमाणित करने के लिये अन्य गुप्त-संवतीय अङ्कों के साथ मिलाकर देखना और परखना होगा। यथा—

(१) चन्द्रगुप्त द्वितीय : **कालानुवर्तमान संवत्सरे एक षष्ठे ६१**
(२) कुमारगुप्त : **अभिवर्धमान विजय राज्य वत्सरे षण्णवतेः ९० + ६**
(३) स्कन्दगुप्त : **वत्सराणामधिकं शतं तु त्रिंशद्भिरन्यैरपिषड्भिरेव १०० + ३० + ६**
(४) कुमारगुप्त द्वितीय : **वर्षे शते गुप्तानां सचतुः पञ्चाशदुत्तरे १०० + ५० + ४**
(५) बुधगुप्त : **शतं पञ्चषष्ट्यधिके वर्षाणाम् १०० + ६० + ५**
(६) वैन्यगुप्त : **वर्तमान संवत्सर शते एक नवत्युत्तरे १०० + ९० + १**
(७) हर्षवर्धन : **संवत् २०२ कार्तिक वदि १**

इसके अनन्तर दामोदर गुप्त का अभिलेख गुप्त-संवत् २२४ का है। भानुगुप्त का शासनकाल गुप्त-संवत् १९१ से लेकर गुप्त-संवत् २२० तक है। फिर क्या कारण है कि भानुगुप्त के समकालिक हर्षवर्धन के उत्कीर्ण गुप्त-संवत् का इस प्रकार ग़लत अन्वय लगाया जाय? यदि उक्त लेख में भानुगुप्त का उल्लेख न होता तो हम इतना लिखने की पहल भी न करते और 'भानु' को प्रभाकरवर्धन का पर्यायवाची मान लिया जाता जब अभिलेख में स्कन्दगुप्त का सङ्केत न होता। अत अब भानु शब्द की बाल की खाल उतारने की बात भी सम्भव नहीं है डा० ने

संवत् २०२ को हर्ष-संवत् २२ मानने का साहस इसलिए दिखाया है कि इतिहासकार रुढ़िवश अपने विचारों, धारणाओं तथा स्थापनाओं में संशोधन करने के लिए उद्यत नहीं है।

निष्कर्ष यह कि—

(१) हर्षवर्धन गुप्तकुलीय भानुगुप्त का समकालिक है, अतः उसे गुप्त युग से दूर नहीं रखा जा सकता।

(२) हर्ष प्रतिपादित संवत् २०२ निश्चयपूर्वक गुप्त-संवत् का प्रयोग है।

(३) प्राचीन इतिहासकारों के अनुसार हर्षकाल २०२ + ३१९ = ५२१ ईसवी होना ठीक है, ६२८ ई० नहीं।

(४) नवीन शोध के अनुसार २०२ + ३०७ = ५०९ ईसवी हर्ष काल निश्चित है।

**प्रसङ्गवश बाणभट्ट का समय भी ५०० ईसवी निर्विकल्प निश्चित है।**

क्या इतिहासकार इस नवीन अनुसन्धान के फलितार्थों को अपनाने के लिए तैयार है? क्या इतिहास हर्षकाल में ११८ वर्षीय उखाड़-पछाड़ को सहन कर सकता है? इन प्रश्नों का उत्तर आनेवाली पीढ़ी दे सकेगी, इसका उत्तर देना वर्तमान इतिहासकारों के वश की बात नहीं है।[३१]

## उपसंहार

गुप्त-संवत्-सम्बन्धी निबन्ध को पढ़कर यह आक्षेप उचित हो सकता है कि इतनी टीप-टाप के बाद परिणाम इतना क्रान्तिकारी नहीं कि जिसका प्रभाव इतिहास को नया मोड़ दे सके। सच-मुच इस आक्षेप में वजन है। बात क्रान्ति या नये मोड़ की इतनी नहीं है, जितनी कि वर्तमान अनास्था-जनक परम्परा को ध्वस्त करके रुचिपूर्ण, वैज्ञानिक, सर्वतः सम्पुष्ट परम्परा को अपनाने की है। अनुमान बस अनुमान ही होते हैं, उन्हें कभी भी चुनौती दी जा सकती है। कल्पना जब कभी इतनी लम्बी बेपर की उड़ान भर लेगी तो उसके पत्ते की तरह कटकर गिरने की सम्भावनाएं भी सदा बनी रहेगी। निराधार निर्णय विद्वज्जनों के विश्वास को बहुत देर तक स्फूर्त नहीं रख सकते। आवश्यकता इतिहास में विस्फोट पैदा करने की इतनी नहीं है, जितनी कि उसे परिमार्जित करने की है। इतिहास को नया मोड़ देना अधिक लाभकारी है या उसे वास्तविक रूप देना अधिक महत्वपूर्ण है, इस पर विचार कर लिया जाय। बिना तालमेल की तालिकाओं के स्थान पर स्वस्थ संवत्-सारिणी बनाना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। बस, यदि इतिहासकार इस संक्षिप्त, परन्तु महत्त्वपूर्ण संशोधन को अपना सकें और गुप्त-संवत् के व्याज से इतिहास में स्थिरता ला सकें तो निबन्ध को निरर्थक समझने की भावनाएँ स्वयं शान्त हो जायेंगी।

गुप्त-संवत १६५५, प्रथम चैत्रशुक्ल प्रतिपदा, बुधवार।

## सन्दर्भ-सङ्केत

**१. यद्यपि अपनी गणना के अनुसार मालव-विक्रम-संवत् का आरम्भ 'धाता' नामक संवत्सर से ही ठीक है, जो ५८ ई० पूर्व ठहरता है. पर चूंकि इसमें एक साल की भूल पैदा हो गई है, बस हम भी इसे ५७ ईसा पूर्व 'ईश्वर' नामक संवत्सर से शुरू मान रहे हैं**

२. साहसाङ्क-शक-संवत् की स्थापना इतनी यथार्थ है कि सर भण्डारकर की संवत्-सूची इसी का अनुसरण करती है, विक्रमाङ्क-शक-संवत् की नहीं। जैसा कि पाठक आगे चलकर देखेंगे।

३. साहसाङ्क-शक-संवत् के २४२ वर्ष पश्चात् गुप्त-संवत् की स्थापना, फ्लीट मतानुसार इतनी यथार्थ है कि जिसके आगे अलबेरूनी का मत टिकता नजर नहीं आता।

४. सर भण्डारकर की सूची का पाठ है: "स्वराज्याभिवृद्धि करे वैजयिके संवत्सरे त्रयोदशमे श्रावण बहुलस्य दशमी पूर्वकम्।" इसमें विजय-संवत्सर नाम लक्ष्य करने योग्य है। सर भण्डारकर ने इसे शक-संवत् में संगृहीत किया है, जो सर्वथा अशुद्ध है।

५. (क) क्रूरग्रहः सकेतुः चन्द्रमसं पूर्णमण्डलमिदानीम्।

अभिभवतुमिच्छति बलात् रक्षत्वेनं तु बुधयोगः। कार्तिक मास में सूर्य-केतु के योग से ३६३ ईसवी में चन्द्र ग्रहण सम्भव है।

(ख) आइने अकबरी का लेख है कि संवत् प्रवर्तक विक्रम तथा आदित्य पोंवार का अन्तर ४२२ वर्ष का है। यह कथन कितना यथार्थ है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ४२१ वें वर्ष में अपना राज्य स्थापित किया होगा। एक वर्ष की भूल को इसमें शामिल कर लिया जाय तो ४२२ वर्ष की बात सर्वथा सत्य है।

६. श्री चन्द्रगुप्त विजय राज्य संवत्सरे पंचमे (५) कालानुवर्तमान संवत्सरे एक षष्ठे ६०+१...यदि 'ईश्वर' नामक संवत्सर में चन्द्रगुप्त का राज्यस्थापन मान लिया जाय तो ४२२ वर्ष वाली बात ठीक है। और यह तभी सम्भव है, जब उसका आरम्भ साहसाङ्क-शक-संवत् के २४२ वर्ष पश्चात् मानें।

७. संवत्सरशते त्रयोदशोत्तरे परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्तः।

८. श्री कुमारगुप्तस्य विजय राज्य संवत्सरे सप्तदशोत्तरे।...

९. संव १००+२०+४ फाल्गुन-दि ७ परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री कुमार गुप्ते।

१०. स १०००+२०+८ वैशाख दि १० श्री कुमार गुप्ते पृथ्वीपतौ...।

११. (क) संवत् १००+२०+९ महाराज श्री कुमारगुप्ते राज्ये...।

(ख) मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यघनस्वने।
वत्सर शतेषु पंचसु विंशत्यधिकेषु नवसु चाब्देषु।
यातेष्वभिरस्य तपस्य मास शुक्लद्वितीयायाम्।

१२. विक्रमादित्य भूपालात् पञ्चापि त्रिकवत्सरे।

जातोयं वल्लभी भङ्गः ज्ञानिनः प्रथमं ययुः। इससे स्पष्ट है कि गुप्त-संवत् १३३ में वल्लभी-भङ्ग हुआ, जिसका गुप्त-संवत् के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। यह साहसाङ्क ही विक्रमादित्य है, जैसा कि क्षीरस्वामी का कथन है—'द्रौपदी विक्रमादित्यः साहसाङ्कः शकान्तकः।' वल्लभी भङ्ग पर आगामी पंक्तियों में पुन लिखा जायगा

१३ शते तु वर्धमिरेव गुप्तकाले गणनां विधाय

१४ मान विजय राज्य संवत्सर शतेष० ९

१५. शक संवत १०१९ ईश्वर नाम संवत्सरे सितसप्तम्या शनैश्चर दिने स्वाति नक्षत्र

१६. शक नृपकालातीते दशशत (त्रयः) त्रिंशदधिन्द खर संवत्सरे कार्तिक पूर्णमास्याम्. . . .

१७. संवत् १२४२ रुद्र संवत्सरे ज्येष्ठ वदी पञ्चमी. . . ।

१८. शके १२४६ रक्ताक्षे संवत्सरे चैत्र सुदि १२ शनौ. . . ।

१९. शके शैलपुरंगाग्निशशि (१३७७) संवत्सरे युवाब्दे शुभे भाद्रपदे विधोर्ग्रह दिने. . . ।

२०. शक वर्षाम्बुलु १४१२ सौम्यसंवत्सरे कार्तिक. . . । इस गणना में नियमानुसार संवत् १४११ ही आना चाहिये था, पर चूँकि कई देशों में कार्तिक से नववर्ष आरम्भ होता है, अतः संवत्सर परिवर्तित न होने पर भी वर्ष गणना में परिवर्तन हो गया है। तथापि यह चिन्त्य अवश्य है।

२१. वर्तमान. . . ।

२२. अपनी राय के अनुसार 'धाता'।

२३. प्रचलित ईसवी सन् के अङ्क 'भारत का प्राचीन इतिहास' सत्यकेतु विद्यालङ्कार, पृष्ठ ६९६–७१० से उद्धृत।

२४. पणसयरी वाससयं तिन्निसयाइं अइक्कमेऊण।
विक्कम कालाउ तओ बलही भंगो समुप्पन्नो।

२५. लेण य सिन्नेण विक्कमाओ अट्ठहिं सएहिं पणयालेहिं वीरसाणं गएहिं बलहिं भजिअण सो राया मारिओ।

२६. विक्रम संवत् की स्थापना। साक्ष्य :—

(क) बाणवेदं नव चन्द्र वर्जितास्तेऽपि शूद्रक समाः प्रकीर्तिताः। १९४५+

(ख) तेभ्यः विक्रमसमाः भवन्ति वै नागनंदवियदिन्दुवाजिताः। १०९८=३०४४। मालव विक्रम संवत् में एक वर्ष की भूल पैदा हो गई है। द्रष्टव्य, १० दिसम्बर १९६१ के दैनिक 'हिन्दुस्तान' दिल्ली में प्रकाशित लेख—"विक्रम संवत् में एक वर्ष की भूल क्यों ?"

२७. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास : पहला भाग : पृष्ठ १६७, पंक्ति ३२, पृष्ठ १६८, पंक्ति १,

२८. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास : दूसरा भाग : पृष्ठ २९३, पंक्ति ३–४।

२९. वही, भाग दूसरा : पृष्ठ ३२६, पंक्ति ३।

३०. वही, भाग दूसरा : पृष्ठ ३००, पंक्ति २१।

३१. व्याख्यातः किल कालिदास कविता श्री विक्रमाङ्को नृपः।

३२. कालिदासाद्यैर्महाकविभिरित्थं संस्तूयमानश्चिरं प्राज्यं साम्राज्यं बभुजे (श्री साहसाङ्क)

३३. दैनिक 'हिन्दुस्तान' के २० मई १९६२ के रविवासरीय अङ्क में प्रकाशित एवं संशोधित।

एक

# भौगोलिक भाषाविज्ञान : सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि

**रमानाथ शर्मा**

भाषाओं के अध्ययन में काल का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। काल-सापेक्ष्य अध्ययन की दिशा में विविध विधाओं को प्रकाश में आने का अवसर मिला है। जहाँ ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान भाषाओं को उनके व्यक्तिगत इतिहास की कसौटी पर परखता है, वहीं वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान उनकी वर्तमान स्थिति का अध्ययन करता है। यह अध्ययन सामान्य व्यवहार में प्रचलित भाषीय प्रयोगों को ही आधार मान कर चलता है। तुलनात्मक भाषाविज्ञान को ऐतिहासिक और वर्णनात्मक दोनों विधाओं में सामञ्जस्य स्थापित करने वाली कड़ी के रूप में माना जाता है। यह ऐतिहासिक बोलियों के विकास, मूल-रूपों (Proto Forms) और भाषा-कुलों (Language Families) की स्थापना का अध्ययन करता है। जो विविध बोलियों और भाषाओं की तुलना द्वारा ही सम्भव होता है।

इधर भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन की एक और विधा प्रकाश मे आयी है जिसे भौगोलिक भापाविज्ञान (Linguistic Geography) के नाम से अभिहित किया जाता है। मारियो पेई के शब्दों में यह "भाषाविज्ञान की वह शाखा (है) जो भाषीय व्यापार की भौगोलिक विस्तृति और परिसीमाओं का अध्ययन तथा वर्गीकरण प्रस्तुत करती है।"[1] वस्तुतः भौगोलिक भाषा-विज्ञान किसी क्षेत्र-विशेष में भाषीय रूपों के प्रादेशिक वितरण का अध्ययन करता है। इसी धारणा को दृष्टि में रखकर ब्लूमफील्ड ने इसे 'बोली-भूगोल'[2] (Dialect Geography) की संज्ञा दी है जिसका समर्थन प्रायः सभी भाषाविद् करते हैं।

वस्तुतः भौगोलिक भाषाविज्ञान में भाषाध्ययन की तीनों विधाएँ समाहित हैं। वर्णनात्मक विधा इसके अध्ययन का आरम्भ बिन्दु है क्योंकि सर्वप्रथम ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन मे ही भाषीय रूपों को सङ्कलित किया जाता है। जो प्रश्नावली (Questionaire) या नमूनों Samples का कार्य करते हैं द्वितीय चरण में विधा आती है क्योंकि विभिन्न

सामाजिक स्तरो (Statuses) और वर्णो Castes) के आधार पर तथा अन्य स्थानीय विभेदो के आधार पर ही रूपो के वितरण की तथाथता आकी जाती है तुलना के आधार पर ही हम ऐतिहासिक तथ्यों का उद्घाटन कर पाते हैं कि कौन-से रूप कितने पुराने है या नये हे, टिक पायेंगे या नहीं।

भौगोलिक भाषाविज्ञान के अध्ययन को दो रीतियों से प्रस्तुत किया जाता है:—

(१) एक कालम में विभिन्न स्थानों का नाम दे कर उनके सामने के दूसरे कालम में उन स्थानों पर प्रयुक्त भाषीय रूप-वैशिष्ट्यों को प्रदर्शित करके तथा,

(२) प्रदेश-विशेष के मानचित्र पर स्थानों की स्थिति स्पष्ट कर भाषीय रूप -वैशिष्टयो को समरूप-रेखाओं (Isoglosses) द्वारा प्रदर्शित कर के।

इनमें से मानचित्रों को विशेष प्रमुखता दी जा रही है और विभिन्न देशों में भाषीय मानचित्रों के सङ्कलन प्रस्तुत किये जा रहे हैं। भौगोलिक मानचित्रों की समताप रेखाओ के सादृश्य पर ही भाषा वैज्ञानिक समरूप रेखाओं की कल्पना की गयी है। भाषीय रूप-वैशिष्ट्यों तथा ध्वनि, तान, रूप, कोश इत्यादि के प्रतिनिधित्व के लिए क्रमश: समध्वनि (Isophone), समतान (Isotone), समरूप (Isomorph) और समरूपीय (Isogloss) रेखाओं की परिकल्पना की गयी है। पेई के अनुसार समरूप-रेखाएँ वे सीमाविभाजक रेखाएँ हैं जिनकी सीमा में एक भाषीय रूप या व्यापार की व्याप्ति लक्षित की जा सके।[३]

समरूप-रेखाओं द्वारा प्रदर्शित सीमाओं को विश्लेषणात्मक उपलब्धि की दृष्टि से प्राय तीन वर्गों में रखा जाता है–(१) अवशेष क्षेत्र (Relic Areas), (२) आकर्षण क्षेत्र (Focal Areas) तथा (३) क्रमोन्नत या परिवृत्ति क्षेत्र (Graded Area)।

अवशेष क्षेत्र वे हैं जहाँ के रहने वाले सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अविकसित होते हे और जहाँ की भौगोलिक स्थिति सम्पर्क-स्थापन और आवागमन की दृष्टि से कष्टसाध्य हो. ये क्षेत्र किसी पर्वत, दुर्गम नदी आदि——जैसे भौगोलिक अवरोध——से घिरे होते हैं। ऐसे ही क्षेत्रों में प्राचीन रूपो का व्यवहार बहुत अधिक मात्रा में मिल जाता है। अन्य क्षेत्रों के लोग इस क्षेत्र के भाषीय रूपो को प्राय: हेय दृष्टि से देखते हैं। यही कारण है कि इन क्षेत्रों के भाषीय रूपों को प्रसार की सुविधा नहीं मिल पाती। यदि इन रूपों के बोलने वाले मात्र परिपक्व आयु वाले अधेड़ अथवा वृद्ध लोग हुए तो यह भी सम्भावना है कि इन्हें उपेक्षा का और कड़ा आघात मिले।

आकर्षण क्षेत्र कुछ ऐसे क्षेत्र होते है जिनकी आर्थिक और औद्योगिक प्रगति का केन्द्र कोई स्थान-विशेष होता है। ऐसे केन्द्र बहुधा नये रूपों के उद्भव-स्रोत हुआ करते हैं। साथ ही इन केन्द्रों के भाषीय रूप-वैशिष्ट्यों को प्राथमिकता दी जाती है। इन क्षेत्रों में समरूप रेखाओं का झुकाव तथाकथित केन्द्र की ओर ही होता है।

क्रमोन्नत या परिवृति क्षेत्रों में किसी रूप के एकविधि प्रयोग नहीं मिलते। समरूपीय रेखाएँ एक-दूसरे को एक या एकाधिक बार काटती हुई खींची जाती हैं अथवा उनके मध्य का अन्तर अधिक होता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि जिन रूपों का हम अध्ययन कर रहे हैं वे सम्पूर्ण रूपों में नहीं मिलते अपितु कुछ उच्चारो (Utterances मे कभी-कभी मिल जाते हैं

इन क्षत्रो का भौगोलिक भाषाविज्ञान मे महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। शायद इसीलि कुछ लोग भौगोलिक भाषाविज्ञान को क्षेत्रीय भाषाविज्ञान भी कहते हैं। इन क्षेत्रों की रूप-स्थितिय के आधार पर विविध ऐतिहासिक निष्कर्ष निकाले जाते हैं। आकर्षण-क्षेत्र के रूप ऐसे होते है जो स्थान-विशेष पर बहुत पहले से व्यवहृत होते चले आये हों तथा अपने प्रतिद्वन्द्वी शब्दो को व्यवहार की स्थिति से निकाल कर पूरे क्षेत्र में फैल गये हों। इसी प्रकार अवशेष क्षेत्र के रूपों को देख कर यह कहा जा सकता है कि ये रूप कभी समूचे क्षेत्र में व्यवहृत रहे होंगे। परिवृत्ति क्षेत्र के रूप यह सङ्केत देते हैं कि किसी नये रूप का प्रसार हुआ है (या हो रहा है), अर्थात् किसी व्यवहारगत प्रयोग के ऊपर किसी नये शब्द या रूप को प्राथमिकता मिल रही है।

उपर्युक्त सङ्केतों के आधार पर सामान्य निष्कर्ष यह भी निकाला जा सकता है कि भौगोलिक भाषाविज्ञान भाषीय सर्वेक्षण से सम्बद्ध है। यह सर्वेक्षण भाषीय रूपों की प्रश्नावली से प्रारम्भ किया जाता है। मानचित्रों पर प्रश्नावली के अन्तर्गत आने वाले सभी रूप -वैशिष्ट्यो को प्रदर्शित नही किया जा सकता। इसीलिए कतिपय विशिष्ट अथव विवाद-ग्रस्त रूपों को ही प्रदर्शित किया जाता है। भाषीय सर्वेक्षण के दो रूप होते हैं:—(१) चालक सर्वेक्षण (Pilot Survey) तथा (२) पूर्ण सर्वेक्षण (Full Survey)।

चालक सर्वेक्षण के लिए क्षेत्र-विशेष की भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्था के साथ-साथ वहाँ की भाषा का सामान्य ज्ञान भी अपेक्षित होता है। इसी सामान्य ज्ञान के आधार पर हम प्रश्नावली का निर्माण करते हैं पर यह प्रश्नावली अभी सुनिश्चित नहीं कही जा सकती। इसके लिए क्षेत्र-निरीक्षण (Spot Study) की आवश्यकता होती है और स्थानगत-विभेदो को दृष्टि में रख कर इसमें परिष्कार किया जाना है। ये सुधार उन बोलीगत विभेदों एवं भाषीय रूपों की प्रकृति को लक्ष्य में रख कर किये जाते हैं, जिन्हें सामान्य प्रश्नावली में प्रतिनिधित्व नही मिल पाया हो और जो सर्वेक्षण की दिशा में महत्त्वपूर्ण परिणाम सङ्केतित कर सकते हों। इस परिष्कृत प्रश्नावली के आधार पर ही पूर्ण सर्वेक्षण सम्पन्न होता है। इस परिष्कृत, पूर्ण सर्वेक्षण के परिणामों के आधार पर ही प्रत्येक क्षेत्र की अलग-अलग भाषीय तालिका बनायी जाती है जिनकी परस्पर तुलना सुविधापूर्वक हो सकती है। रूपतालिकाओं के महत्त्वपूर्ण ध्वनि, तान, रूप एव कोषीय विशेषताओं को मानचित्रों पर समरूप-रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।

बहुधा होता यह है कि किसी क्षेत्र में जितने ही अधिक सर्वेक्षण स्थान (Field-Stations) होते हैं उतनी सुघड़ता से समरूप-रेखाएँ खिंचती है। जितने ही अधिक केन्द्र हों उतने ही सूक्ष्म सर्वेक्षण के परिणाम होंगे।

भाषीय विशेषताएँ पूर्व-लिखित पुस्तकों या लेखों से ज्ञात की जा सकती हैं अथवा क्षेत्र-विशेष का भ्रमण करके उन्हें ज्ञात किया जाता है। सामान्य प्रश्नावली का निर्माण उपर्युक्त सभी तथ्यों को दृष्टि में रख कर किया जाता है जिसमें सामान्य जीवन से सम्बद्ध शब्दावली, वाक्यांश और वाक्य रहते हैं। नाइडा ने अपनी पुस्तक में सामान्य प्रश्नावली के विषयों का इस प्रकार वर्गीकरण किया है:—[6]

(अ) शरीर के विभिन्न अवयव—सिर, सिर के बाल, नाक, आँख इत्यादि।

(ब) वस्त्र—टोप कमीज पतलून धोती इत्यादि

(स) गृह-कार्य से सम्बद्ध वस्तुएँ—चाकू, चम्मच, पानी, बर्तन आदि।

(द) व्यक्ति-सम्बन्ध—पिता, माता, पुत्री, पुत्र, बहन इत्यादि।

(य) ग्रामीण जीवन के उपकरण —हल, बीज, हथौड़ा, आरी इत्यादि।

(व) जीव-समूह—घोड़ा, बैल, गाय, सुअर, बिल्ली, भेंड़ इत्यादि।

(र) भूगोल और खगोल सम्बन्धी वस्तुएँ—नदी, झरना, झील, तारे, सूरज इत्यादि।

वॉगेलिन-द्वय के 'होपी डोमेन' में हमें एक अत्यधिक विस्तृत, व्यवस्थित अथच वर्गीकृत सूची प्राप्त है जिसके आधार पर आवश्यकतानुसार संशोधन करके सर्वेक्षण कार्य के लिये उत्तम सूची बनायी जा सकती है। वॉगेलिन-द्वय की शब्द-सूची व्याकरणिक कोटियों के साथ ही साथ विषय को भी दृष्टि में रख कर वर्गीकृत हुई है। स्पष्ट है कि ऐसी शब्द-सूची विस्तृत सर्वेक्षण के लिए उपयुक्त होगी। साथ ही साथ इसका उपयोग भी बहुत सतर्कतापूर्वक किया जाना चाहिये।[5]

प्रश्नावली के उत्तर के लिए सूचकों (Informants) का चुनाव भी महत्त्वपूर्ण होता है। ये सूचक सामाजिक स्तरों, वर्गों एवं संस्कृति तथा शिक्षा के आधार पर जीवन के प्रत्येक पक्ष से लिये जाते हैं। शिक्षा के आधार पर सूचकों की प्रायः चार कोटियाँ—अशिक्षित : अर्द्ध शिक्षित : शिक्षित तथा उच्च शिक्षा प्राप्त—निर्धारित की जाती हैं। ये सूचक आयु की दृष्टि से १५ तथा ८० वर्षों के मध्य के होते है। आवश्यकता इस बात की होती है कि सूचक सूचीगत शब्दों के समकक्ष शब्दों का उच्चारण शुद्धतः कर पाता हो। प्रकृत उच्चारण के आग्रहवश मध्यवय के सूचकों को विशेष स्थान दिया जाता है।

प्रत्येक सर्वेक्षण की सामग्री सङ्कलन, विश्लेषण और प्रस्तुतीकरण सम्बन्धी कुछ अपनी नीतियाँ और योजनाएँ होती हैं। यदि सर्वेक्षण का क्षेत्र छोटा हो तो कुछ ही भाषाविदों से काम चल जाता है। ये व्यक्ति अपने ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन, विश्लेषण और प्रस्तुतीकरण-सम्बन्धी प्रत्येक सिद्धान्त पहले ही निर्धारित कर लेते हैं। यद्यपि विस्तृत क्षेत्र के सर्वेक्षणों में भी जहाँ भाषाविदो की संख्या बहुत होती है, ये बातें पहले से ही सुनियोजित होती हैं किन्तु सर्वेक्षण के विश्लेषण और प्रस्तुतीकरण पर वैयक्तिक भिन्नताएँ अपनी छाप छोड़ती ही हैं। फिर भी इन विभिन्नताओं की उपस्थिति से सर्वेक्षण की सामान्य उपयोगिता और वैज्ञानिकता को झुठला देना भी असङ्गत ही कहा जायेगा।

## सन्दर्भ-सङ्केत

१. ए० मारियो पेई : डिक्शनरी ऑव् लिंग्विस्टिक्स (पीटर ओवेन लि०, लन्दन), पृष्ठ १०६।

२. एल० ब्लूम फ़ील्ड : लैंग्वेज (जॉर्ज ऐलेन ऐण्ड अनविन, लन्दन), पृष्ठ ३२१।

३. पेई : वही।

४. ई० ए० नाइडा : मॉर्फ़ालॉजी : अन आरबर (दि यूनिवर्सिटी ऑव् मिशिगन प्रेस), पृष्ठ १७९।

५. सी० एफ़० वॉगेलिन तथा एफ़० एम० वॉगेलिन 'होपी डोमेन' (आई० जे० ए० एल० मॉनोग्राफ, यूनिवर्सिटी ऑव इण्डियाना, १९५७)

दो

●

गोविन्द जी

●

# भक्त कवि लालचदास और उनकी भागवतकथा

भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग, से प्रकाशित होनेवाले पत्र 'हिन्दी-अनुशीलन' (वर्ष १४, अङ्क ३) में श्री मुरारीलाल शर्मा, 'सुरस' का एक शोध-निबन्ध 'अवधी में कृष्णकाव्य के प्रणेता : लालचदास' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। शर्मा जी ने लालचदास से सम्बन्धित अब तक की लगभग समस्त प्रकाशित सामग्रियों का अवलोकन कर अपना विचार व्यक्त किया है। लालच-दास-कृत 'भागवतकथा' नाम का एक हस्तलिखित ग्रन्थ मुझे भी बलिया ज़िले (उत्तर-प्रदेश) के रेपुरा नामक ग्राम से प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय नीचे दे रहा हूँ ताकि इस विषय पर कार्य करने वाले शोधार्थियों को कुछ नयी जानकारी प्राप्त हो सके।

**ग्रन्थ-परिचय**—ग्रन्थ का पूरा नाम 'भागवत कथा' है लेकिन प्रत्येक अध्याय के अन्त मे कवि ने इस प्रकार लिखा है—"**इति श्री हरिचरित्रे दशम स्कन्धे महापुराणे श्री भागवत अर्थ सुभाषते।**" ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिखा है—"**श्री पोथी भागवत कथा लालच गोसाईं के।**"

ग्रन्थ लगभग ६०० पृष्ठों में रायल आकार में (१०½" × ७") है। ग्रन्थ सम्पूर्ण है जिसमे अध्यायों की संख्या ९६ है। जैसा कि ग्रन्थ के नाम से स्पष्ट है, इसमें 'भागवत-पुराण' की कथा का संक्षिप्त वर्णन कवि ने दोहा–चौपाई शैली में अवधी भाषा में किया है। लिपि देवनागरी है।

लालचदास ने 'भागवत कथा' की रचना का प्रारम्भ संवत् १५८७ में किया था जैसा कि उनके कथन से ही स्पष्ट है—

**सम्त् पन्द्रह सै सतासी जहिआ। कथा अरम्भन किन्हौं तहिआ।।**
**मास असाढ़ कथा अनुसारा। हरिबासर रजनी उजिआरा।।**

कवि ने अपने जन्म-काल एवं स्थान के सम्बन्ध में कही कोई उल्लेख नहीं किया है। एक स्थल पर उन्होंने अपनी जाति 'हलवाई' बतायी है:—

**सर्बभूत के अन्तरजामी। तेहिते बिनवो सब के स्वामी।।**
**बिघुन हरन सन्तन सुखदाई। चरन गहो लालच हलुआई।।**

द्वितीय अध्याय के अन्त में कवि ने लिखा है कि उन्होंने धोखे से एक बार विष-पान कर लिया था इसके बाद वे भाग कर सन्तो की शरण म गये जिन्होंने इन्हें राम-नाम रस का पान कराया विष शीघ्र ही उतर गया

अनजानत कै मैं विष पावा।
भाजि सन्त सरनागत आवा।।
सब सन्तन मिली रचा उपाई।
राम नाम रस चाखहु भाई।।
सो विष उतरत बार न लागी।
सत्य राम जो देखहु जागी।।

कवि की मृत्यु कब हुई यह ग्रन्थ से स्पष्ट नहीं है। किन्तु छियालीसवें अध्याय के प्रारम्
उल्लेख है जिससे ज्ञात होता है कि ४५ अध्याय लिखने के पश्चात् लालचदास की मृत्यु 
। लालचदास की मृत्यु के पश्चात् ग्रन्थ पूरा करने का कार्य उनके शिष्य 'आसानन्द'
षोडस सँ एकोत्तर' अर्थात् सं० १६०१ में प्रारम्भ किया। आसानन्द ने अपनी जा
, पिता का नाम 'प्रताप प्रधान' तथा गाँव का नाम 'रायबरवली' (रायबरेली
है—

आसानन्द दासन के दासा। प्रभु के चरन रेनु की आसा।।
अरध प्रबन्ध कथा जब कहेउ। संकट प्रान लालच तब भएउ।।
भगति करत प्रभु के मन लाए। सुरसरि निकट अर्ध जल पाए।।
उन्ह जन हरि की स्तुति ठेउ। क्रिस्न चरित भाषा रस कैउ।।

× × ×

ऐहं बड़ सोच रहा जीव आई। नहिं बरनौं सब गुन जदुराई।।
मम बिनती सब सन्त के होई। कथा समतु करी मैं सोई।।
जेहि विधि जस गावो भगवाना। सुमिरत चरित गत भौ प्राना।।
सम्मत् षोड़स सँ एकोत्तर गैउ। क्रिस्न चरित हृदै उप जैउ।।
हरि गुन लिखत आसानन्द नाउ। करो कथा हरि के गुन गाउ।।
कायथ जाति लोग सब जाना। तासु पिता प्रताप परधाना।।
धरम मूरति गुन ज्ञान विवेका। हृदै भगति क्रिस्न जीव टेका।।
अरथिति व्रीति ग्राम निज आही। राय बरबली मन्दिर ताही।।

लालचदास का नाम प्रायः दोहों में लालच, जनलालच एवं लालच स्वामी के रूप में मिलत
सानन्द ने भी सर्वत्र ही इन नामों को देने की परम्परा को अक्षुण्ण रखा है।
ग्रन्थ का प्रतिलिपि-काल सम्वत् १९३० है। अन्त में पुष्पिका इस प्रकार है:—
'इति श्री हरिचरित्रे दसम् स्कन्धे महापुराणे श्री भागवत अर्थ सुभाषते जगर्नाथ बउध
बरननो छानबेमो अध्याय।९६।'
'इति श्री लालच कथा सम्पुरन समापतः जो देषा सो लिखा मम दोषङ्क न दीअते सम
साल सन् १२८१ शाल मीती अगहन बदी ६ षष्टीवार मङ्गर के कथा तइआर भइ
लखा सीवरतन सभ सन्तन के दास कौम कायथ पेसर जगर्नाथ सींघ नाम
ल सींघ, सा० अमुर्गाव परगना सिकन्दरपुर जिला आसमगढ़

## तीन

# लिखमते कठपुतली का अमर सिंह राठौड़ का खेल

महेन्द्र मनावत

राजस्थान के कठपुतली नचाने वालों में जोधपुर जिले के जीजोट गाँव के श्री नाथू तथा श्याम लाल कठपुतली वाले अपनी पुतलियाँ नचाने में अत्यन्त प्रसिद्ध कहे जाते है। सन् १९५८ मे नत्थू भाट के कठपुतली दल को राजस्थान के विकास विभाग ने भारतीय लोक-कला मण्डल मे कठपुतली-कला में नवीन प्रशिक्षण के लिए भेजा था। श्री नाथू भाट को भगवान् राम से सम्बन्धित कठपुतली रामलीला-नाटिका में करीब ४ महीने तक प्रशिक्षण दिया गया और वह नाटिका इतनी लोकप्रिय हुई कि अब तक उसके करीब ५०० प्रदर्शन राजस्थान के गाँवों में दिये जा चुके है। इसी प्रकार सन् १९६० में श्यामलाल के दल को भी पन्चायक नामक कठपुतली-नाटिका की रचना कर प्रशिक्षण दिया गया। ये दोनों नाटिकाएँ कला मण्डल के संस्थापक-सन्चालक श्री देवीलाल सामर ने लिखी थीं जिसमें काठपुतली कला की प्राचीन परम्परा को सुरक्षित रखते हुए उसमें नया प्रयोग किया गया है। लेखक को इन दोनों ही दलों के साथ प्रशिक्षण के समय रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ है।

वर्तमान में राजस्थान के सभी कठपुतली-कलाकार केवल 'अमरसिंह राठौड़' का ही खेल करते है। लेखक ने ऐसे कई दलों के अमरसिंह राठौड़ के खेल को देखा तथा उनका बारीकी से अध्ययन किया है। यहाँ अमरसिंह राठौड़ के खेल को उसके मूल-रूप मे ही जैसा ये लोग प्रदर्शित करते हैं दिया जा रहा है। आशा है, इस क्षेत्र में रुचि रखने-वाले विद्वानों के लिए यह सामग्री हितकर सिद्ध होगी।

ढोलक की डमडम-ढमढम के साथ परदा खुलते ही **दे जाना जरा एलम से झाड़ दे जाना जी—जरा एलम से झाड़'** गीत के साथ हाथ में बुहारी तथा बगल में खारी लिये मेहतर प्रवेश करता है और मन्च पर झाड़ू निकालकर चलता बनता है, उसके जाते ही **'भर लाना कटोरा पानी का, मीठी बेरी का पानी भर लाना'** कहते ही ठुमकते-ऐंठते हुए बादल भिस्ती का प्रवेश होता है —

**बादल भिस्ती**
**खेले कुश्ती**
**चले हस्ती की चाल।**
**दूध कटोरा पी के मियाँ**
**काँधे धरी परवाल।**

पानी छिड़काव किया जाता है और चला जाता है उसके जाते ही सरर से मन्च पर

आकाश से उतरी परी की तरह बालपन मे नजरिया लगने वाले **खबरदार! नजर महरबान!** की बुलन्द आवाज किये बादशाहो के नकीब चौपदार टपक पडते है चोपदार का शिष्ट हास्य देखिये :—

**चौपदार तुम्हारा क्या नाम है?**
**नाम तो श्री भगवान का!**
**अरे तुम्हारा क्या नाम है मियाँ?**
**मेरा नाम तो नत्थे खाँ...मेरा नाम तो...**

कहता हुआ पहरे पर खड़ा हो जाता है और वहाँ बैठे डुगडुगी वाले खड़बड़ खाँ से जा भिड़ता है। खड़बड़ खाँ अपने ही हाल में मस्त रहता है। वह **"थोड़ी सी और बजेगी, थोड़ी सी और बजेगी"** कह-कह कर बार-बार डुगडुगी बजाता है उछलता एवं हंसता-कूदता है। चौपदार बीच-बीच में उसे चुप करता है, और पूछता है :—

**तेरा नाम क्या?**
**खड़बड़ खाँ**
**तेरे बाप का?**
**गड़बड़ खाँ**
**तो मियाँ बजाओगे बाजा?**
**हाँ, बजाऊँगा, तान में तान, गत में गत, हमारी ढोल तुम्हारा नगारा।**

ढोलकवाला ढोलक बजाता है, डुगडुगी वाला अपनी मथुरा अलग ही बसाता है। इस पर दोनों आपस में लड़ते-झगड़ते हैं, एक दूसरे से पटका-पटकी करते हैं, अन्त में ढोलक वाला तंङ्ग आकर चोपदार को बुलाता है। चौपदार आकर उसे कहता है :—

**अबे! क्यों गड़बड़ करता है बादशाहों के दरबार में?**
**क्या तेरा बाप का ठेका है यहाँ? हम तो बजाएँगे?**

और बजाता है और बोलता है :—

**थोड़ी सी और बजेगी...**
**अबे साले मैं तेरा ताशा फोड़ दूँगा**
**मैं साले तेरे गले में डंडा कर दूँगा।**

दोनों एक दूसरे को पटकी मारते हैं। डुग डुगी वाला उसके शिर पर चढ़ जाता है और डण्डे की सहयता से उसे पीटने लगता है। चोपदार गुस्सा करता है, उसके गुस्से को देखकर डर के मारे डुगडुगीवाला बेहोश-सा धरती पर धड़ाम से गिर पड़ता है। चोपदार उसे मरा हुवा-सा जानकर उसकी नाड़ी देखता है। जब कोई हल नहीं दिखायी देता। तो उसे बाहर डालने के लिए वह भङ्गी को बुलाता है भङ्गी को आते देखते ही .. खड़ा हो उठता

है और **तू मरा तेरा बाप मरा, तू मरा तेरा बाप मरा'** कहते कहते दोनों की खोपडी छिल देता है

इस प्रकार हास्य और विनोद के पश्चात् अब दरबार लगने की तैयारी होती है। सर्वप्रथम वजीर सलावत खाँ प्रवेश करते हैं। चोपदार 'मालिकाम सलाम' कर उन्हें उचित स्थान पर बिठाता है। उसके बाद क्रमशः हैदराबाद के नवाब निजाम उद्दीन, लखनऊ के नवाब आसकदोला पठान प्रवेश करते हैं। उन्हें यथास्थान बिठाने के बाद भाँड़ (बहुरूपिया) वेरूप के लडके जयपुर के भाँड़ नकलबाजी बताने के लिए प्रवेश करते हैं। चोपदार उनको पूछता हैं :—

**तुम क्या करने को आये यहाँ?**
**नकलबाजी के लिए**
**अरे तुम काठ की पुतली क्या नकल दिखाओगे?**
**एक जान की दो जान**
**एक चेहरे के दो चेहरे!**

**यह कहते हुए 'ये जनाना चेहरा, ये मरदाना चेहरा, यह आगरे का देवर और यह दिल्ली की भौजाई'** के रूप में जनाना तथा मरदाना रूप दिखाता है। इतने में तीसमार खाँ दिखायी पडता है। ढोलक वाला चोपदार से उसका परिचय कराता है :—

**ये तीस मारखाँ, तीस को मार बत्तीस को पार कर निकल गया।**
**दो चार के नाक काट डाले**
**दो चार को कुए में गिरा दिये**
**बड़े बहादुर हैं चोपदार! इनके डेरे लगाओ।**

तीसमार खाँ दरबार में सो जाता है और चोपदार के बहुत उठाने पर भी वह नहीं उठता है। चोपदार कहता है **"ओ तीसमार खाँ यहाँ सोने का आडर नहीं है।"** ढोलक वाले की आज्ञा से चोपदार ऐसी पटकी मारता है कि वह उठ खड़ा होता है। तीसमार खाँ चोपदार से कहता है :—

**अबे तू कौन है?**
**मैं तेरा बाप**
**मैं तेरे बाप का बाप**

चोपदार तीसमार **खाँ** को मारते मारते दरबार के बाहर कर देता है इतने में जयपुर : राजा मानसिंह हाथी पर आते दिखायी देते हैं

मान तुम्हारो मौज में दरियाव बहल्ले
मेर डरे वासक डरे धरती थर थल्ले
पोता भगवानदास का भड़कते चाले
पचरंग, झण्डा हदबाधा जाजमवणी जरदूद
रणत भँवर-सा किला लिया ऐसा राजा मान मरदद।

मानसिंह के वाद जोधपुर के राजा अजितसिंह राठौड़ पधारते हैं:—

दिल्ली रा दोई थाम उजला जयपुर जोधपुर जोड़
कुरङ्ग से पृथ्वी काँपे रणबाँका राठौड़
अमर सिंह तो अमर भये जाने सकल जहान
शाह अकबर की गोद में मारा सलावत खाँ
अमर की कमर में काहे की कटारी
जोधाणे धड़ाई बीकाणे सतराई

'हाथाँ रा असलाग खुलेजद करदे अमर सिंह कचेरी ने रीती' के रूप में नागौर नृपति अमरसिंह राठौड़ का प्रवेश होते ही दरवार-हाल में शान्ति छा जाती है। अमरसिंह के वाद उनका भतीजा बीकानेर का राजा रामसिंह प्रवेश करता है —

लालन की झोंपड़ी फोगत की बाड़
देखो राजा थारी नी खूँटी मारवाड़

बड़ौदा के राजा अर्जुन गौड़ तथा उनके बाद जनाब पट्टेवाज, पठान के लड़के, पट्टा खेलने के लिए, ढाल तलवार घुमाने के लिए प्रवेश करते हैं। पट्टे बाजा गाता है:—

कद आवे रंगीले नबाब
रामपुरा सुनो....
आपनी आवे, खरजीन लावे
झूठा परवाना भेजे
रामपुरा सुनो....

वह नाना प्रकार के करामत दिखलाता है और चला जाता है। इतने में काले गोरों की पल्टन के बीच दिल्ली के शाहंशाह अकबर आते हुए दिखायी देते हैं। उनको आते देख ढोलक वाला अपनी ढोलक पर फुदक पड़ता है :—

बड़े साहब के डेरे आये झंडी निशान
बोलो एलीजान मेरी बोली एलीजान
अँगला नाचे बँगला नाचे, नाचे बोतल खाना
बड़े साब की मेम पुकारे लाओ बबर्ची खाना।
लेफ्ट राइट लेफ्ट राइट

चोपदार बादशाह को आदर के साथ आसन पर बिठाता है। उसके बाद ही पिलपीली साहब बादशाह के नौकर की तलाश में आते हैं। लड्डू नामक एक लड़के से जो उन्हें वहाँ बैठा हुआ मिल जाता है, वे वर्तालाप करते हैं :—

अबे नौकरी करेगा ?
हाँ जनाब।
कितना रुपया लेगा ?
एक हजार
तेरी अकल तो ठीक है ?
हाँ सरकार
उड़ी तो नहीं ?
नहीं सरकार
तुम जनाना कि मरदाना ?
मरदाना
घोड़ा के घोड़ी ?
घोड़ा
कैसा बोलता है ?
हूँ हूँ हूँ
मूर्गा के मुर्गी ?
मूर्गा
कैसे बोलता है ?
कुकड़ूँ कूँ
अरे वाह मूर्गे ! वाह घोड़े वाह ! !

इस प्रकार दोनों आपस में खूब मनोरञ्जन करते हैं, दरबार भी उनके मनोरञ्जन से हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाता है।

इसके बाद ऊँट वाले का प्रवेश होता है। दिल्ली से आगरा और आगरा से दिल्ली डाक ले जाने वाला मारवाड़ का ऊँट ऊँट सवार उससे नाच कराता है। साथ में गीत है :—

धीमा चलो म्हें हारी रे रघुबर धीमा चलो . . .
एक तो हारी मजल की मारी
दूसरा पाँव मेरा भारी रे रघुबर . . . .

ऊँट के बाद बादशाह की रण्डी गुल्बदन को नाचने के लिए बुलायी जाती है। रण्डी नाना प्रकार के लटकीले के साथ नृत्य करती है और गाती है

सया तेरी गोदी में गेंदा बन जाऊँगी।
राजा तेरी गोदी में गेंदा बन जाऊँगी।
गेंदा बन जाऊँगी हजारी बन जाऊँगी।
जब मोरे सैंया को प्यास लगत है
गङ्गा-जमुना नरबदा बन जाऊँगी।।
जब मोरे सैंया को भूख लगत है
लड्डू जलेबी कचोरी बन जाऊँगी।।
जब मोरे सैया को सोने को चाहिए
सौर पथरना रजैया बन जाऊँगी।।
जब मोरे सैंया को शौक लगत है
तबला सारंगी सितार बन जाऊँगी।।

तवायफ के नृत्य के बाद जैसलमेर के राजा दूल्हाभाटी का घोड़ा नाच करने के लिए बुलाया जाता है। टेका भरता हुआ, कदम चाल चलता हुआ घोड़ा आता है और नाच करता है :—

घुड़लो कियाँ पलाण्यो राजा घुड़लो...
ऊँटा ने नीरूँ निरणी, घोड़ा ने नागर बेल
घुड़लो....
गढ़ दिल्ली गढ़ आगरोजी गढ़ बीकाणे देस
भला चिलायो भाटियो कोई सुणियो जैसलमेर
घुड़लो...
अबलक घोड़ो जीण कस्योड़ो, सिद चाल्या सिरदार
महलाँ उड़ी के कामणी या बिलखै थारी नार
घुड़लो...

घोड़ा उछला जाता है, दरबार में छूट जाता है, चोपदार घोड़े को पकड़ता है, मालिश करता है, घोड़ा लत्ती मारता है। वह उसे 'दाना! दाना!'' कहकर पुकारता है परन्तु घोड़ा उसके एक लत्ती और कसकर रखता है जिससे उसकी कमर टूट जाती है तथा सिर फूट जाता है। राज-दरबार खिलखिला उठता है। इसी बीच 'ताना कौन तनेगा' कहती हुई 'सकरू' नामक जुलाही आती है और उसके बाद बीकानेर की मालिन तरकारी बेचने के लिए प्रवेश करती हैं :—

तरकारी लेलो
मालन आयी बीकानेर की।
आलक बेचूँ, पालक बेचूँ
और बेचूँ चन्दरोई।
(अरे) बड़ा जेठ की पगड़ी बेचूँ
म्हे मालण की माई

गाजर का गढ़ कोट बणाया
मूली का दरवाजा।
सकरकन्द की तोप बणाई
लड़ै फिरङ्गी राजा।

मालनिया के बाद रही-सही कमी को पूरी करने के लिए 'लैला-मजनूं' टपक पड़ते है। इनकी हास्यमयी उक्तियों से दरबार में ठहाका मच जाता है। इनके बाद एक हँसोड़ा युवती आती हैं, वह अपनी चुनरिया धुलवाने के लिए धोबी को बुलाती है। उसका भी रङ्ग देखिए।—

मेरी चुनरिया
पिया की पगड़ियाँ
जरा टोपी के साबन लगाजारी
धोबीआजारे...
धोबी धोवे धोवती, घट जमना के तीर
साबन मछली ले गयी, बाँका फूट गया तकदीर
धोबी आजारे....

तेजा धोबी आता है, वह कपड़े धोने लगता है, इतने में मगर उसे खींचकर ले जाता है। इधर उसकी पत्नी उसके लिए भोजन ले कर वहाँ आती हैं, उसे नहीं पा कर वह बहुत रोती है। धोबिन और चोपदार की मजेदार वार्ता सुनते ही बनती है। चोपदार रोब गाँठता हुआ बोलता है :—

अबे यहाँ क्यों शोर मचा रही है?
अजी मेरा धोबी मर गया
मरजाने दे साले को, और कर ले
किससे करूँ?
मुझ से करले, मुझसे कर ले
अरे तू तो बुड्ढा है
अबे तू भी तो बुड्ढी है
मैं तो बारह बरस की हूँ
मैं तो दस ही बरस का हूँ

इधर डुगडुगी वाला झाँक-झाँक कर उनकी ओर देखता है। वह जोर-जोर से डुगडुगी बजाता है। वह चली जाती है। सपेरे वाला भी साँप का नृत्य पणिहारी की धुन पर करता है।

अब जनाब बादशाह के दरबार का हाल देखिए। सबसे पहले अमरसिंह राठौड़ उठते हैं बादशाह के पास जाने के लिए कि उन्हें बादशाह का साला सलावत वजीर खाँ रोक लेता है और कहता है

सात दिन का कौल किया छ महिने गुजर गया
हाड़ीरानी ब्याह के हिन्दू मुजरे तक नहीं आये।
सात दिन के सात लाख रुपया जुर्माना रखो
तीन लाख ले लो
नहीं चौदह लाख
एक पाई नहीं दूँगा
हट बे हिन्दू गँवार
आज कहा गँवार कल देगा गाली
यह ले चोट अमरसिंह की, भरी है कि खाली

कहते ही अमरसिंह सलावत खाँ का धड़ उड़ा देता है। अकबर डर के मारे भाग जाता है। इस प्रकार एक-एक कर सभी राजाओं का खात्मा अमर सिंह द्वारा कर दिया जाता है। अन्त में अर्जुन गौड़ अमरसिंह के पास आकर कहता है :—

चलिए बहनोई जी सुला करें
नहीं मैं नहीं आऊँगा
नहीं, चलना पड़ेगा
तू मेरे साथ धोखा करेगा
नहीं, नहीं राजपूतों का यह धर्म नहीं

अमरसिंह जाने को तैयार हो जाता है। रास्ते में ही उसका धर उड़ा दिया जाता है। इतने में लड़का रामसिंह उधर आ निकलता है। वह अर्जुन गौड़ के साथ युद्ध करता है और उसे धराशायी कर देता है और यहीं खेल समाप्त हो जाता है।

पट्टेबाज जब लाहौर का तेगा और बिलायत की तलवार चलाता है उस समय निम्नलिखित गीत भी कोई-कोई कठपुतली वाले गाते हैं :—

सलम सैंया झाली का कुरता मत पेरो
नजर तोरे लग जायेगी
गोरे की टोपी मत ओढ़ो
नजर तोरे लग जायेगी
ढाल तलवार मत बाँधो
नजर तोरे लग जायगी।

इसी प्रकार जब घोड़ा नाचता है तब:—

बागाँ में उतरे मोरे सलम
सलम के सलम

चलो बागां में देखें मोरे सलम
मोरे सलम की क्या क्या निशानी
गोटे की टोपी गुलाबे पतङ्ग

और बीकानेर की मालिन आती है तब :—

हाट गयी बाजार गयी, लेने गयी धनिया
धनिया मनिया भूल गयी मेरे पीछे पड़ग्या बनिया
एक पैसे का धनिया लायी, एक पैसे की मरची
मरची मरची कोई करोरे, कोई न देवे खरची

गीत भी गाये जाते है।

चार

# पीपाकृत चिन्तामणि : एक अप्रकाशित रचना

ओमप्रकाश सक्सेना

बम्बई की 'श्री फार्वस गुजराती-सभा' के हस्तलिखित ग्रन्थ के संग्रह की १७५ न० की प्रति विषय की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस प्रति में गो० तुलसीदास, मीराँ, तथा गुजराती कवि नरसिंह मेहता के पद सङ्कलित है तथा इसी के साथ भक्त पीपा की 'चिन्तामणि' भी लिखी है।

भक्त पीपा की गणना रामानन्द के शिष्यों मे की जाती है। ये गाङ्गरोन के राजा थे। इनका समय स० १४६५-१४७५ के लगभग माना जाता है।[1] स्वामी रामानन्द के साथ ये अपनी पत्नी सहित एक बार द्वारकापुरी की यात्रा पर भी गये थे। वहाँ पर इन्होंने कितने ही चमत्कार दिखाये, जिससे आज भी ये गुजरात में अधिक लोकप्रिय हैं तथा इनकी स्मृति के स्मारक रूप में 'पीपावट का वृहल् मठ' आज भी वहां वर्तमान है। गुजरात मे प्रचलित एक किंवन्दती के अनुसार पीपा जी दूसरे जन्म में भक्त नरसी मेहता के रूप में अवतरित हुए।[2]

भक्त पीपा के विषय मे हस्तलिखित रूप मे उल्लेख यहीं की एक अन्य हस्तलिखित प्रति मे भी मिलता है जो इस प्रकार है

सब सन्तन की आज्ञा पाउतो पीपा जि की कथा सुनाउ
गगारून पुर पाटन स्या कियो रास अलख बखानू
गागरून पुर बरनू केसा क्षेदि पाप धरम ताँहाँ मेसा
बहुबिध बाडी कुआ निवासू और मण्डप सोहे चहूपासू
ताहि पुर पीपा जी चोराउ परजाकू दुष देय न काउ
राजरीति राख परखनूं रणसूरो धरमीष्ट सुजानूं

पीपा की बानियों तथा रचनाओं का अभी तक कोई प्रकाशन नहीं हुआ है। एक संग्रह बहुत दनों पहिले काशी से निकला था किन्तु वह अब उपलब्ध नहीं। एक पद 'गुरु ग्रन्थ-साहब' में संग्रहीत है तथा पटना से प्रकाशित 'सन्त साहित्य' में अगरचन्द नाहटा ने 'पीपा की परचरी' प्रकाशित करवायी थी। किन्तु अभी तक पीपा की 'चिन्तामणि' कही से भी प्रकाशित नही हुई। इसीलिए इसे अप्रकाशित कहा गया है।

प्रतिलिपि करने में पर्याप्त सतर्कता से काम लिया गया है। प्राचीन लिपिकारों की तरह मैं भी कह सकता हूँ—'यादृश पुस्तकं दृष्टा तादृशं लिखितं मया' आदि-आदि। पाठ-भेद के सम्भाव्य रूपो का निर्देश भी यथास्थान कर दिया है। किन्तु पाठ को शुद्ध करने की चेष्टा नहीं की गयी है। यों बहुत से स्थल सामान्य सुधार की अपेक्षा रखते हैं। लिपि और लिपिकार दोनो के गुजराती होने के कारण यह कहना कठिन है कि प्राप्त पाठ अपने प्रामाणिक रूप में है। प्रारम्भ से अन्त तक कहीं भी समय का उल्लेख न होने के कारण यह कहना कठिन है कि प्रति किस समय की है।

## भक्त पीपा-कृत चिन्तामणि

ये उपदेश सूण मन मिन्त। बड चिन्तामणिकरी ले चिन्त।।
जाके गुसे[४] है जमरायें। ताकू नींद कैसे आये।।
मारग चलणा है तोहे। अन्धे क्यों न चेत होये।।
पीआ ना दुर है तेरा[५]। सघन बन बहोत उलझोरा।।
तामें बहोत ओंघट घाट। अति कठण बसमी बाट।।
जासी अहड भड सामन्त। × × × ।।
षोडा धार मारग वीर। कायेर बांध सी नहीं धीर।।
सूरा पोहच सी एक आर। नटवर कला जाणों साध।।
जामें मोह सीलता धार। भें कासी घु अधीक अपार।।
करहरी भजन नोका लार। सतगुरु षेव[६] उतारे पार।।
आडा याँचि चोर अरु बटमार। फुनि पचीस ताकी लाहार।।
लाल चलो भ स्वाद अनेक। बहोत जोधा येकायेक।।
अति अति अहङ्कार तृष्णा काम क्रोध वीकार[७]।।
मारग में मान गमान सनमख बडे साजे बाम।

तामे सघ ससा षाय । आपा अति मारे धाये ॥
मनमथ जोधा मारग मांहे । कायेर कहो कौस विध जाये ।
कायेर कोट मलें केही काम । सूण ये कमल बरीयाम ॥
सूरा सूप से नीज सीस । भगवन्त सेहल सी भुज बीस ॥
महेज बगतर पहेरों अङ्ग । सतगुरू शब्द की करोलो संग ।
गुरू को ज्ञान कस्य तरवार । षीमा षेही लेहो बीचार ॥
अजमा जाप कर जम दाठ । तो तुम हि अति ओघाड ॥
चेतन तुरिया बर घाल । षत्रि ह्वे कर इस विध चाल ॥
सहेज संतोष आउध च सील । सूध्य बूध्य सूरत राषो डील ॥
विवेक का सिर धर लें टोप । रंगा वलि बनी अधीक अनोप ॥
रुह की हाथ गहो कमान । ध्यान समाध्य धनुष कर बान ॥
राषो संग साच बीचार । गहो विश्वास बड हथीआर ॥
सजीवन जडी है जगदीश । सो ले राषो अपने सीस ॥
बलरसरी कह री हृदे आण । वेरी कान लगे बांण ॥
भाव भक्त प्रेम प्रतीत । एआउ धरा षोसत जित ॥
ऐसे राग दीठ मसार । सूरा संयम कायेर हार ॥
हूं जान ही आन उपाय । हरी जस मत होये कर गाय ॥
सूणो ते मन हेत करो ऐक बात । हरी बीना सब दीसे जात ॥
गये सोउ देवताये । अेसे सूण जीया डर लाये ॥
कहेत हुं अपने उनमान । गनतिं को नां आवें परमान ॥
जादव गये छपन कोड । कोरव पांडव दल बल जोड ॥
जा संग लष षोहणी पूर । सीसपाल से केते ओर ॥
वे तो जरासन्ध अति जोर । ना छें तण षला[10] ज्यों तोर ॥
जाके सीस दस भुज बीस । ते मील गये दई ता ईस ॥
बलबल जाके अति अहंकार । ते रावण गयो लंकाहार ॥
चकवे मंडलिक चक बंध । ते भी पडे जम के फन्द ॥
केते गणु दानव देव । गणती कोई न आवे छेव ॥
संवत सूरा सूभट झूझार । ओसर षेल चले संसार ॥
केते आवे केते जाई । केते रहसो थीर नाही ॥
जासो त्रगमूत पाताल । कउर वसे सअर दस दीगपाल ॥
जासो सव षांड के स्थंभ । जासी सबद घट धरा आरम्भ ॥
जासी अवनी नीर होतास । जासी पवन फूनि आकाश ॥
जासी तीन गुण विस्तार । माया आद्य उओडकार ॥
षासी जूए मूत अद काल ए जी के सार
रहेसी एक अवीगत नाथ × × ×

घडी घडी तरी अवध घटाए ऐसी जान हरी हरी हेत लाए ।
चंद सूरज दोनो साथ । पूरब जोए पछम हाथ ।।
देषत रवद करसी छांही । उगे आथ मे सो थिर नाहीं ।।
ए गत आपनी तु जान । तरवर साष रे सलसान ।।
सलता नीर थीर ना होये । सरोवर क्यों न देषो जोये ।।
ये तन जान अंजुरी नीर । जासी देषता नही थीर ।।
धन जोबन दोनों हाथ । कोयु चले कीस के हाथ ।।
मृगा बांच बेवलाये । जम्बूक तीन दे कहे समझाये ।।
आ वीध जाम वीते आठ । घडी तीस दोनों[11] साठ ।।
षचू पंषी कहेंत पोकार । मनषा जन्म जानिन हार ।।
गये सांम आये सेत । मस्तग चढे हेला देत ।।
उचा चढ़ी कहेत हुं टेर । निसदिन में साठू जेर ।।
देषे तात मात सूत भ्रात । जमरा देषता ले जात ।।
देषे कूल कुटुंब परीवार । ऐसे समर्थ को नहीं छेडावनहार ।।
चकीत भये सबे में भीत । ऐसा कन ही की बलवंत ।।
जमपे जीव राष जंत । चलता म्रही राखे बोहे ।।
ये संसार स्वार्थ के लोये । संकू नीकरन आये काये ।।
सौ बात की एक बात । पीपो सुमरें त्रीभोवन नाथ ।।

पीपा मन पंषी भया, जाहं तांह उड जाय ।
जांह जेसी संगत करे, ताहां तेसा ही फलपाये ।।

## संकेत

परशुराम चतुर्वेदी : उत्तर भारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ २३४।
फार्बस सभा नी हस्तलिखित पुस्तकों नी सविस्तर नामावलि, पृष्ठ १०१।
वही, पृष्ठ १०१।
सम्भवतः यहाँ 'घुसे' होना चाहिए।
'पीआ घर दूर है तेरा' अधिक सार्थक लगता है।
समस्त गुजराती हस्तलिखित प्रतियों में 'ख' के स्थान पर 'ष' ही मिलता है
समस्त गुजराती हस्तलिखित प्रतियों में छोटी 'इ' की मात्रा के स्थान प
। प्राप्त होती है।
सम्भवतः यहाँ 'छत्रि' शब्द अधिक उपयुक्त है।
'छे' गुजराती भाषा की सहायक क्रिया है, जिसका अर्थ 'है' होता है।
सम्भवतः 'लाष' शब्द उपयुक्त है।
पाठान्तर यमराज।
पाठान्तर चूनी

# नये प्रकाशन

## समीक्षकों की दृष्टि में

### प्रेमचन्द : कलम का सिपाही

अमृतराय द्वारा लिखित
प्रेमचन्द के जीवन का आख्यान,
प्रकाशक : हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या : डिमाई ६७९, मूल्य : २०.००

प्रस्तुत पुस्तक प्रेमचन्द के पुत्र द्वारा लिखी अपने पिता अर्थात् स्व० प्रेमचन्द की जीवनी है। स्वयं अमृतराय जी के शब्दों में "जीवनी भी एक उपन्यास ही है, जिसका नायक प्रेमचन्द नाम का एक आदमी है, फ़र्क़ बस इतना है कि यह आदमी मेरे दिमाग़ की उपज नहीं है, हाड़-माँस का एक पुतला है, जो इस धरती पर डोल चुका है और समय की पगडण्डी पर अपने पैरों के कुछ निशान छोड़ गया है, उसको मारने-जिलाने की, जैसे- मन चाहे तोड़ने-मरोड़ने की आज़ादी मुझे नहीं है; घटना-प्रसङ्गों का आविष्कार करने की छूट मुझे नहीं है, कितने ही मोटे-मोटे रस्सों से मैं अच्छी तरह या (बुरी-तरह) खूँटे से बँधा हुआ हूँ।"

प्रश्न यह है कि जीवनी और उपन्यास में क्या इतना साम्य है और फ़र्क़ मात्र 'इतना' जरा-सा है या उपन्यास और जीवनी के बीच रचना-विधान, दृष्टिकोण और परिप्रेक्ष्य का अन्तर होता है। मैं समझता हूँ जिस अन्तर को इतना गौण मान कर अमृतराय जी ने जीवनी लिखी है, उसी में उपजी हुई कुछ स्पष्ट कमियाँ भी इस जीवनी में आ गयी हैं। यह सही है कि हिन्दी मे जीवनी लिखने का साहस लोग नही करते, किन्तु यह भी सत्य है कि जीवनी के नाम पर उपन्यास-शैली का प्रयोग करके कोई भी उपन्यासकार जीवनी-लेखक नहीं हो सकता। 'लस्ट फ़ार लाइफ़' वॉन गॉग के जीवन की कतिपय घटनाओं पर आधारित एक उपन्यास है, किन्तु उसे जीवनी शायद ही कोई कहे। जीवनी की असली कसौटी 'बॉसवेल्स लाइफ़ ऑव जॉनसन' जिसे किसी भी प्रकार उपन्यास नहीं कहा जा सकता और न उसे एक बृहद् संस्मरण ही कहा जा सकता है। इसलिए उपन्यास और जीवनी की दो विभिन्न विधाओं को एक साथ मिलाकर देखने में शिल्पगत कमजोरियाँ आ जाती हैं और जब मेरे जैसा पाठक जीवनी की दृष्टि से इस पुस्तक या किसी भी जीवनी को पढ़ने की चेष्टा करता है तो शायद जीवन की तथ्यात्मक, प्रामाणिक और वैयक्तिक घटनाओं के अकृत्रिम अभिव्यक्ति की अपेक्षा रखता है। अतएव मेरा अपना मत है कि किसी भी जीवनी का के अधिक निकट होना दोष है गुण नहीं

इतनी बात स्पष्ट हो जाने पर इस जीवनी के सम्बन्ध में भी कुछ चीज काफ़ी साफ़ हो जाती हैं। पहली चीज यह है कि ६७९ पृष्ठों की इस पुस्तक में केवल वही स्थान मार्मिक हैं जहाँ नितान्त निकट से अमृतराय ने प्रेमचन्द जी के जीवन के अनेक क्षणों के नितान्त वैयक्तिक आत्मीय दृष्टि से देखा है। वह लेखक बड़ा भाग्यशाली होता है जिसके पुत्र या जिसकी पत्नी को अपने पिता या पति की जीवनी लिखने का अवसर मिलता है। किन्तु यदि इनमें से कोई भी सौन्दर्यपरक दूरी (Aesthetic Distance) की रक्षा करते हुए जीवनी लिख सके तो निश्चय ही वह अद्वितीय होगी।

श्री अमृतराय ने इस जीवनी में नितान्त आत्मीय क्षणों एवं वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं की अपेक्षा आवश्यकता से अधिक निरपेक्ष और प्रमाणिक होने की चेष्टा की है। वे शायद यह भूल गये कि कोई भी पाठक जब इस जीवनी को पढ़ने के लिये उठायेगा तो दो बातें उसके आँखो के सामने अपने आप आ जायेंगी—पहली तो यह कि यह जीवनी एक पुत्र द्वारा लिखी गयी है; दूसरी यह कि इसकी प्रामाणिकता के साथ-साथ मर्मस्पर्शी व्यक्तिगत तत्त्व भी होगा। मुझे याद आता है, गाँधी जी के मरने के बाद दो सीरीज़ में अब्दुल्लाह गाँधी ने गाँधी जी के कुछ संस्मरण लिखे थे। इसी प्रकार देवदास गाँधी ने भी दो-तीन संस्मरण लिखे थे। दो पुत्र एक ही पिता के संस्मरण लिख रहे थे। एक में अर्थात् अब्दुल्लाह गाँधी में क्षोभ और कटुता थी और उसके सन्दर्भ मे उन्होंने गाँधी जी की महानता स्वीकार करते हुए कुछ नितान्त मार्मिक चित्रण किये थे। दूसरी ओर देवदास गाँधी ने नितान्त श्रद्धापूर्वक अपने पिता के त्याग और तपस्या का विवेचन किया था। दोनों ही संस्मरण अच्छे थे, लेकिन अब्दुल्लाह गाँधी का संस्मरण अधिक मानवीय था, जबकि देवदास गाँधी का संस्मरण कोई ऐसा व्यक्ति भी लिख सकता था जो राष्ट्रपिता के सम्पर्क में आकर उनके 'राष्ट्रपिता' में निहित पिता भाव का साक्षी रहा होता। इससे मेरा मतलब सिर्फ़ इतना ही है कि अच्छे संस्मरण में जीवन के विरोधाभासों और व्यंग्यों का तिरस्कार नहीं होता। अमृतराय ने सबसे बड़ी भूल इस जीवनी में यही की है। उन्होंने दस्तावेज़ों और डाकूमेण्ट्स को अपनी व्यक्तिगत तटस्थ दृष्टि से अधिक प्रामाणिक माना है। ऐसा इसलिए है कि लेखक ने प्रेमचन्द को केवल देश के लोगों में उनके व्यक्तित्त्व को घुला कर देखने मात्र की चेष्टा की है। पुस्तक की भूमिका ही में उन्होंने लिखा भी है—

**"किताब लिखनी जब शुरू हुई तब कितनी ही बार मेरे हाथ पैर फूल गये। मैं समझ ही नहीं पाता था कि मै इसमें लिखूँगा क्या, किताब आगे बढ़े तो कैसे बढ़े! लेकिन जब इसी पीड़ा और उद्वेग में से अचानक यह गुर मेरे हाथ लगा कि इस व्यक्ति के जीवन को उसके देश और समाज के जीवन से जोड़ कर तो देखो, तब जैसे सारे बन्द दरवाजे यकबयक खुल गये . . ." (—पृष्ठ ११)**

मेरे कथन की पुष्टि अमृतराय के इसी वाक्य से हो जाती है। प्रेमचन्द को उन्होंने केवल एक रिऐक्टर के रूप में लिया है। देश और देश से सम्बन्धित जितनी भी क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ है, सब उनमें प्रतिबिम्बित होती है। मुझे इससे कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु यह उनके समूचे वैयक्तिक जीवन को ही पचा जाय, यह मुझे स्वीकार्य नहीं है।

यह मेरी अपनी निजी राय है हो सकता है कि इससे अन्य आलोचक सहमत न हों और उन्हें इस पुस्तक में दिये गये दस्तावेजी सुबूतों से ही तुष्टि हो जाय तुष्टि तो मुझे भी होता है

पुस्तक पढ़ने ही स पता चलता है कि अमृतराय जी ने इसके लिखने म बड़ा परिश्रम किया होगा इतने दस्तावेज़ों को इकट्ठा करना, उनको पढ़ना, उनमें से उपयुक्त सामग्री छाँटना मामूली काम नहीं है। उनके परिश्रम को मैं स्वीकार करता हूँ और यह मानता हूँ कि अमृतराय जी ने बडे धीरज और गम्भीरता से लिखने की चेष्टा की है। शायद यही कारण है कि प्रामाणिकता का आग्रह उनके ऊपर इतना हावी हो गया है कि अत्यन्त ममत्व के क्षणों को भी उन्होंने कोई मूल्य दिया ही नहीं! ऐसा तो मैं नहीं मान सकता कि प्रेमचन्द जैसे व्यक्ति ने अमृतराय जैसे पुत्र से कभी बात ही न की हो, या अमृतराय जी ने माता-पिता के घरेलू-मसलों पर सलाह-मशवरा करते न सुना हो, या प्रेमचन्द के आदर्शवाद को उनके भाई-बन्धु, सगे-सम्बन्धियों ने बिना विरोध के स्वीकार किया हो।

इस दृष्टि से देखने पर प्रस्तुत जीवनी में जितने भी दस्तावेज़ प्रमाणरूप में अमृतराय ने प्रस्तुत किये हैं, वे सराहनीय हैं। प्रस्ताव के नियोजन-संयोजन में जो दृष्टि अमृतराय जी ने बनायी थी, उसकी उपलब्धि इस पुस्तक में उन्हें मिल गयी है किन्तु एक बात इसमें और है जो खटकती है। प्रेमचन्द काशी के रहने वाले थे। काशी उस समय हिन्दी भाषा और साहित्य का केन्द्र था। प्रसाद, हरिऔध, रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास, रायकृष्णदास, रामदास गौड आदि प्रेमचन्द के समकालीन थे। बनारस में भी प्रेमचन्द का कुछ लोगों के साथ अच्छा और कुछ लोगों के साथ विरोध का सम्बन्ध रहा होगा। मुन्शी दयानरायन निगम और 'ज़माना' का प्रेमचन्द जी का सम्पर्क एक युग में बड़ा घनिष्ठ था। उस घनिष्ठता का निर्वाह किन रूपों में हुआ ह, इसका परिचय तो मिल जाता है, किन्तु इसके अतिरिक्त यह नही पता चलता कि उस युग मे कौन उनके समर्थक थे और कौन उनके विरोधी, अथवा अपने समर्थकों के प्रति उनका कैसा व्यवहार रहता था और जिनसे वे सहमत नहीं थे उनसे उनका कैसा वर्ताव होता था। प्रेमचन्द जी चौबीस घण्टे कमरे में बैठे लिखते रहते थे या कभी कमरे से निकलते भी थे—निकलते थे तो किधर जाते थे? कौन उनकी प्रिय सड़क थी? वह कैसी छड़ी थी जिसे वे पसन्द करते थे? कुर्ता-धोती पहनते थे तो उसके प्रति उनका क्या दृष्टिकोण था? कौन-कौन-सा प्रिय या अप्रिय दुकान-दार, पानवाले, या इसी प्रकार के अन्य जीवन-व्यापार सम्बन्धी व्यक्ति थे? उनके व्यक्तिगत सुख-दुख, खुशी-गमी के क्षणों का भी इसमें कहीं कोई परिचय नहीं मिलना और यही अमृतराय की योजना का दोष है।

जहाँ भूमिका में उन्होंने प्रेमचन्द के व्यक्तित्व को सम्पूर्ण देश के जन-मानस से सम्बद्ध करके उनके व्यक्तित्व को अङ्कित करने की चेष्टा की है, वहीं, मुझे लगता है, वे चाहने हुए भी उसका निर्वाह शायद नहीं कर पाये। जहाँ वे इस स्थिति से उबर गये हैं वहाँ बात बड़ी रोचक और नितान्त मानवीय भी हो गयी है। इसका अनुभव पृष्ठ २३० से आगे मुन्शी जी की प्रेस खोलने की दीवानगी को पढ़कर होता है। यह स्थल बहुत ही मार्मिक और यथार्थवादी बन पड़ा है।

कुछ तथ्यों और तिथियों को लेकर कुछ लोगों ने कुछ खण्डन-मण्डन किये हैं। वे कहा तक सही हैं, मैं नहीं कह सकता किन्तु जिस दुःसाध्य परिश्रम का बोध पूरी पुस्तक को पढ़कर होता है उससे यह स्पष्ट पता चलता है पहले तो इस प्रकार की कोई भूल है नही और अगर है भी तो वह से हुई होगी अमृतराय न जान-बूझ कर उसे तोड़न-मोड़ने की चेष्टा नहीं की होगी

अन्यथा वयक्तिक आधार को छोडकर निता त वस्तुपरक ढङ्ग से लिखने का साथकता ह नही रह जाती

अमृतराय जी ने काफ़ी परिश्रम और खोज-बीन के बाद एक-एक टुकड़ा इकट्ठा किया है और उसका ऐसा उपयोग किया कि वह उनके कृतित्व को मात्र सन्दर्भ ही न प्रदान करे वरन् उसकी आन्तरिक रचना का अङ्ग बन जाय। यह अपने में ही बहुत बड़ी बात है। अमृत ने जीवनी का गठन ही ऐसा किया है कि जिसमें शोध-पक्ष अधिक विपुल है। उनकी इस प्रमुख रचना-कृति मे यह तत्त्व होते हुए भी यदि उसमें कुछ भूलें रह गयी हों तो उसके विषय में मैं कुछ नहीं कह सकता। विशेषज्ञ ही काफ़ी छानबीन कर जीवनी के इस अंश पर प्रकाश डाल सकते हैं।

प्रेमचन्द के जीवन के घरेलू पक्ष पर शिवरानी प्रेमचन्द ने 'प्रेमचन्द : घर में' काफ़ी स्पष्टता के साथ लिख दिया है। यद्यपि उसमें भी कमियाँ हैं, लेकिन वे इसी प्रकार की हैं। यह कहा जा सकता है कि चूँकि उस पुस्तक में प्रेमचन्द के घरेलू जीवन और उसके उथल-पुथल के विषय में, हर्ष-उल्लास के क्षणों के विषय में लिखा जा चुका था, इसलिए इस पुस्तक में यदि वह अश नहीं आ पाया तो भी जहाँ तक इस पक्ष का प्रश्न है, उससे उसकी त्रुटि नहीं होती। शिवरानी जी ने प्रेमचन्द की पत्नी के रूप में उनके जीवन और घर की कुछ झाकियाँ दी थीं। अमृतराय इस ६८० पृष्ठ की पुस्तक में यदि सौ-डेढ़-सौ पृष्ठ और जोड़ देते और कुछ उन मानवीय चित्रों की निकटतम झाँकियाँ और दे देते जिनसे उन्होंने पुस्तक प्रारम्भ की थी, तो शायद यह पुस्तक अधिक मूल्यवान् हो जाती। वे तथ्य भी प्रामाणिक ही होते। उनसे पुस्तक में व्याप्त फीकापन कम हो जाता और स्नेह-सम्बन्धो की मार्मिक झाँकियाँ शायद पुस्तक को उसकी समस्त वस्तुपरक दृष्टि के साथ-साथ आत्मीय भी बना देतीं।

अमृतराय की शैली कुछ अर्थों में रोचक और सुन्दर नहीं हो पायी है। कुल मिलाकर एक ही टोन और एक ही गति के कारण कहीं-कहीं वह उबा देती है। उनका रचनात्मक कृतिकार दब गया है। नैरेटर अधिक उभर आया है। परिणाम यह होता है कि पूरी पुस्तक एक ऐसी डाकूमेण्टरी-सी लगती है जिसमें केवल दो पात्र हैं—उद्घोषक के रूप में अमृतराय और व्यक्तित्व के रूप में प्रेमचन्द—अपने खतों और वक्तव्यों के माध्यम से। ऐसा लगता है जैसे किसी रेडियो-सेट पर हम प्रेमचन्द की जीवनी की उद्घोषणाएँ मात्र सुन रहे हैं—वे जीवन्त दृश्य भी उद्घोषक की शैली मे मिल जाते हैं और लगता है जैसे एक निहायत ही सादा सपाट दृश्य है जिसमे एक ही प्रकार की गूँज है, विभिन्नता और विविधता नहीं है। ऐसा होने के भी कई कारण हैं।

प्रथम तो वस्तुपरक होने के प्रति उनका तीव्र आग्रह प्रेमचन्द के केवल दो ही रूप प्रस्तुत करने में सफल हुआ है और वे रूप हैं—मुन्शी जी के और प्रेमचन्द के। दूसरा कारण यह है कि अमृतराय ने उर्दू के मुहावरों मे उनकी जीवनी को ढालने की चेष्टा की है। भाषा कम से कम मुझ जैसे व्यक्ति को, जिसे उर्दू से भी उतनी ही दिलचस्पी है जितनी हिन्दी से, बड़ी फ़ार्मल सी लगती है। तृतीय कारण यह है कि प्रेमचन्द के विषय में लेखक ने सूचनाएँ अधिक दी हैं और इन सूचनाओं के चयन में उनकी दृष्टि प्रेमचन्द के व्यक्तित्व पर न होकर देश के व्यापक आन्दोलन और उसकी उर्दू और हिन्दी के लेखकों के सम्बन्ध आदि पहलुओं पर अधिक चला

गया है चौथा कारण यह लगता है कि लेखक ने भावकता Se tim ntalism) से बचने की चेष्टा में भावना (Sentiments) को भी काटकर फेंक देना चाहा है।

मैं मानता हूँ कि अमृतराय जी की समस्या कठिन थी। त्याग और तपस्या के प्रतिमूर्त, संघर्षशील पिता की जीवनी लिखते समय न जाने कितने क्षण ऐसे बीते होंगे जब आँखें भर आयी होंगी, गला रुँध गया होगा और उससे कतरा कर ऊपर उठकर नितान्त वस्तुपरक तथ्यों को ग्रहण करने की उनकी बलवती आत्मशक्ति को बड़ी यातना भी हुई होगी। किन्तु मेरा अपना मत है कि यदि उस घुटन या आँसू की उन बूँदों के दो-चार-दस कतरे इस पुस्तक में आ गये होते तो, शायद इसका फीकापन धुल जाता और आँसुओं की पवित्रता से कोई इनकार नहीं करता।

यह नहीं कि अमृतराय में प्रस्तुत शैली से हट कर घटनाओं के वर्णन करने की शक्ति नहीं है। कहीं कहीं—यद्यपि ये स्थान बड़े थोड़े से हैं—जहाँ उनकी रचनात्मक शैली अपनी स्वाभाविकता पर आती है तो बड़ा ही मार्मिक चित्रण भी हो गया है, जैसे 'चुनार में गोरे से मार-पीट' या उसके पहले 'चक्रवर्ती की पुस्तक बेचकर लौटते हुए प्रेमचन्द का चित्रण' या पहले स्टेशन पर प्रेमचन्द का स्वागत या इन्सपेक्टर और प्रेमचन्द की बातचीत का वर्णन या प्रेमचन्द और जैनेन्द्र का वार्तालाप या अन्त में जहाँ प्रेमचन्द के निधन और उनकी अर्थी उठने का प्रसङ्ग। और जब मैं पूरी किताब पढ़कर अमृतराय की इस शैली को देखता हूँ तो लगता है जैसे काश, यही मार्मिकता पूरी जीवनी में होती ?

पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट १ में उपन्यासों का काल-निर्देश, परिशिष्ट में कहानियों का काल-निर्देश और एक विस्तृत अनुक्रमणिका भी है जिससे लेखक ने पुस्तक को और भी मूल्यवान् बना दिया है। **—लक्ष्मीकान्त वर्मा**

**कबीर-ग्रन्थावली : डॉ० पारसनाथ तिवारी का शोध-प्रबन्ध तथा कबीर-वाणी-संग्रह प्रकाशक : हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, पृष्ठ-संख्या : २८२+२१०, मूल्य : १२.००।**

प्रस्तुत ग्रन्थ डॉ० पारसनाथ तिवारी का शोध-प्रबन्ध है। इस पर उन्हें सन् १९५६ मे प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फिल्० की उपाधि मिली है। इसमें पाठालोचन के वैज्ञानिक आधारो पर कबीर की प्रामाणिक कृतियों का पाठ-निर्णीत किया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ दो खण्डों में बँटा है। प्रथम खण्ड में हस्तलिखित और मुद्रित प्राप्य सामग्री का विवरण और विश्लेषण, कबीर के नाम पर प्रचलित परवर्ती कबीरपन्थी रचनाओं विवरण और कबीरस्वामी की प्रमुख आधारभूत सामग्री तथा आधार-प्रतियों का विस्तृत विवरण है। प्रतियों का सङ्कीर्ण-सम्बन्ध और पाठ-निर्णय बहुत विद्वत्तापूर्ण ढङ्ग से किया गया है। बानियों के क्रमनिर्धारण में लेखक के सूक्ष्म ज्ञान का परिचय मिलता है। संशोधन के कार्य में उसके असाधारण परिशीलन और विश्लेषण की छाप है। द्वितीय खण्ड में कबीर-बाणी का निर्धारित पाठ दिया गया है जिसमें २०० पद, २० रमैनी और एक चौंतीसी रमैनी तथा ७४४ साखियाँ दी गयी हैं। इतनी ही कबीर की प्रामाणिक कृतियाँ निश्चित हुई हैं। अन्त में दो परिशिष्ट हैं—पदों रमैनियों और साखियों की प्रथम पंक्तियों की और विभिन्न प्रतियों की पाठ-विकृतियों की ।

इस ग्रन्थ मे यद्यपि सौ स अधिक प्रतियो का परीक्षण किया गया है, किन्तु दादूपन्थी शाखा की पाँच प्रतियों, निरञ्जनी शाखा की एक प्रति, गुरुग्रन्थ साहब की प्रति, बीजक की तीन प्रतियों, शब्दावलियों की दो प्रतियों, साखियों की तीन प्रतियों, सर्वङ्गी तथा गुणगञ्जनामा की एक-एक प्रति तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन की एक प्रति----इन अठारह प्रतियों का विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन किया गया है और इन्हीं के आधार पर कबीर की वाणियों का यथासम्भव प्राचीनतम ओर प्रामाणिकतम पाठ निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है।

बिना प्रामाणिक पाठ के कबीर का मूल मन्तव्य निश्चित करना केवल मिथ्यारोप होगा। कबीर के मत को निश्चित करने के लिए उनकी मूल वाणी को निश्चित करना अपरिहार्य है। डॉ० तिवारी ने ऐसा करके उनके दर्शन की प्रामाणिक व्याख्या का मार्ग तैयार किया है, एतदर्थ वे बधाई के पात्र है।

कबीर-वाणी के अब तक के प्रकाशित संस्करणों में काशी नागरी प्रचारिणी सभा की कबीर ग्रन्थावली, गुरुग्रन्थ साहब में सङ्कलित कबीर वाणी (जिसे डॉ० रामकुमार वर्मा ने भूमिका तथा अर्थ के साथ 'सन्त कबीर' नाम से पृथक् प्रकाशित कराया है) प्रामाणिकता की दृष्टि स विद्वानों में अधिक आदर पाते रहे है। किन्तु इनमें प्रक्षेपो के अतिरिक्त पाठ की विकृतियां भी कितनी हैं, यह इस संस्करण के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है।

कबीर पन्थ में 'बीजक' को प्रामाणिकता की दृष्टि से सबसे अधिक मान्यता दी जाती है, किन्तु डॉ० तिवारी ने बीजक की पाठ-परम्परा निर्धारित करते समय भगवान साहब के बीजक को अन्य सभी बीजकों की अपेक्षा प्राचीनतर मानने और इस प्राचीनतम बीजक को भी कबीर की मृत्यु से काफी समय बाद सङ्कलित किये जाने के पक्ष मे जो तर्क तथा प्रमाण दिये हैं, उनकी ओर अब तक किसी विद्वान् की दृष्टि नहीं गयी थी और वे इतने अकाट्य हैं कि उनका प्रतिवाद करना बडा मुश्किल है।

किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि प्रस्तुत ग्रन्थ में दी गयी सामग्री के अतिरिक्त कबीर-वाणी नहीं है। कबीर के बहुत से पद मौखिक परम्परा में आरम्भ से ही चल रहे हैं। उनको लिपिबद्ध करने का और उनमें से प्रामाणिक तथा प्रक्षिप्त अंशों को छाँटने का सफल वैज्ञानिक प्रयास अभी तक नही किया गया है। फिर, खोज करने पर कबीर की वाणियों के ऐसे सङ्ग्रह मिल सकते हैं जिनका लेखक ने विचार न किया हो और उनमें से कुछ पद साखी और रमैनी प्रामाणिक रूप से मिल सकते हैं। कुछ भी हो, प्रस्तुत संकलन पूर्ण नहीं कहा जा सकता। इसमें बहुत से पद नहीं हैं जिनके कबीरकृत होने में अभी तक सन्देह नही किया गया। उदाहरण के लिए 'सन्तो सहज समाधि भली', 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' आदि पद लिये जा सकते हैं।

जहाँ पाठालोचन की दृष्टि से विवेचन हुआ है, वहाँ थोड़ा विवेचन आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से भी होना चाहिए। कबीर की आध्यात्मिक साधना जितनी उत्कृष्ट थी उतनी सम्भवत किसी कबीरपन्थी की नहीं थी। इस उत्कर्ष के आधार पर भी कबीर के पदों का निर्धारण हो सकता है, उनके पाठ का निर्धारण भले ही न हो।

पाण्डेय

## रजिस्ट्रार न्यूज पेपर्स ऐक्ट के नियम के अन्तर्गत विज्ञप्ति

| | |
|---|---|
| १. प्रकाशन का नाम | हिन्दुस्तानी |
| २. प्रकाशन की तिथि | त्रैमासिक (जनवरी, अप्रैल, जुलाई, अक्तूबर) |
| ३. मुद्रक का नाम | सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग |
| ४. राष्ट्रीयता | भारतीय |
| ५. पता | सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग |
| ६. प्रकाशक | विद्या भास्कर, सचिव तथा कोषाध्यक्ष, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद |
| ७. राष्ट्रीयता | भारतीय |
| ८. पता | हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद |
| ९. सम्पादक | बालकृष्ण राव, प्रधान सम्पादक<br>डॉ० सत्यव्रत सिन्हा, सहायक सम्पादक |
| १०. राष्ट्रीयता | भारतीय |
| ११. पता | हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद |
| १२. स्वामित्व | हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद |

मैं, विद्या भास्कर, सचिव तथा कोषाध्यक्ष, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, घोषित करता हूँ कि उपरिलिखित विज्ञप्ति मेरी जानकारी के अनुसार बिल्कुल ठीक है।

**विद्या भास्कर**

प्रबन्ध सम्पादक, सचिव तथा कोषाध्यक्ष